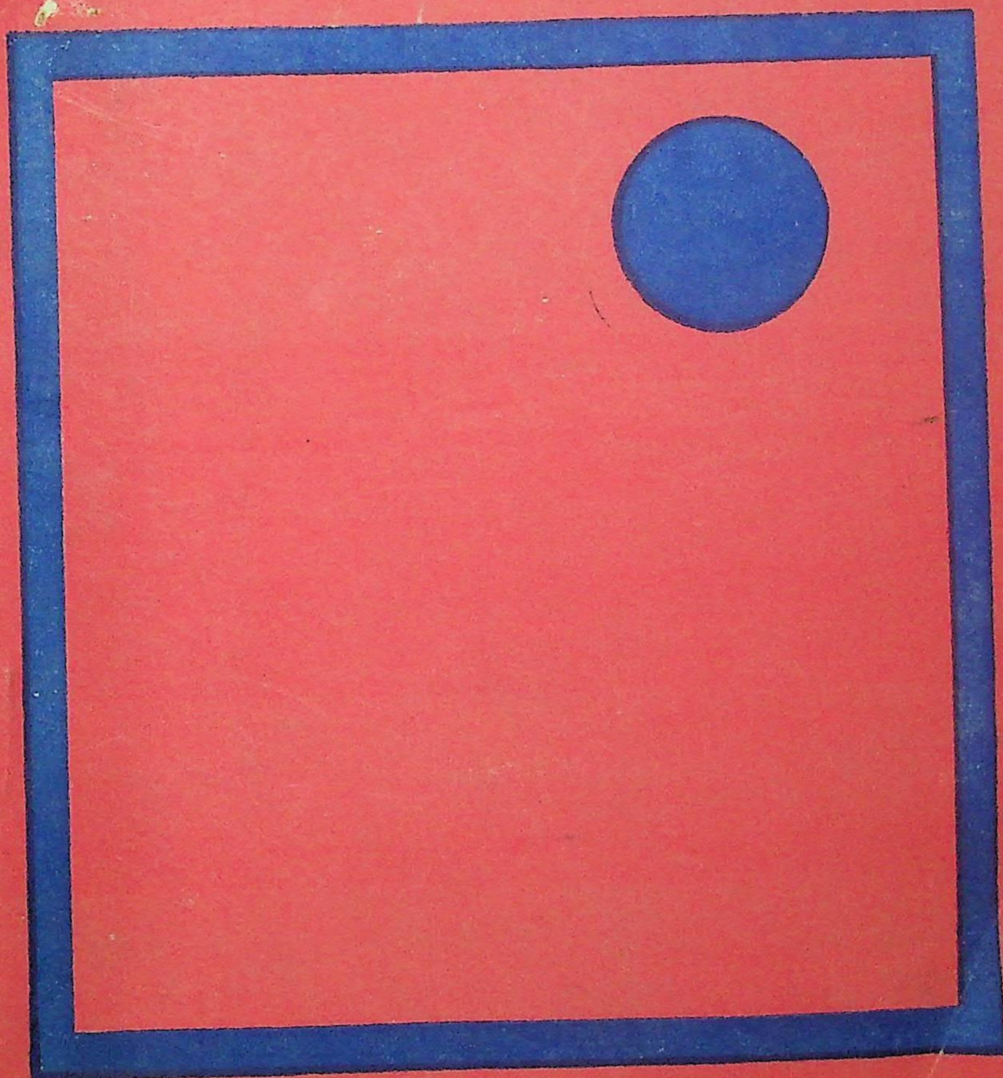
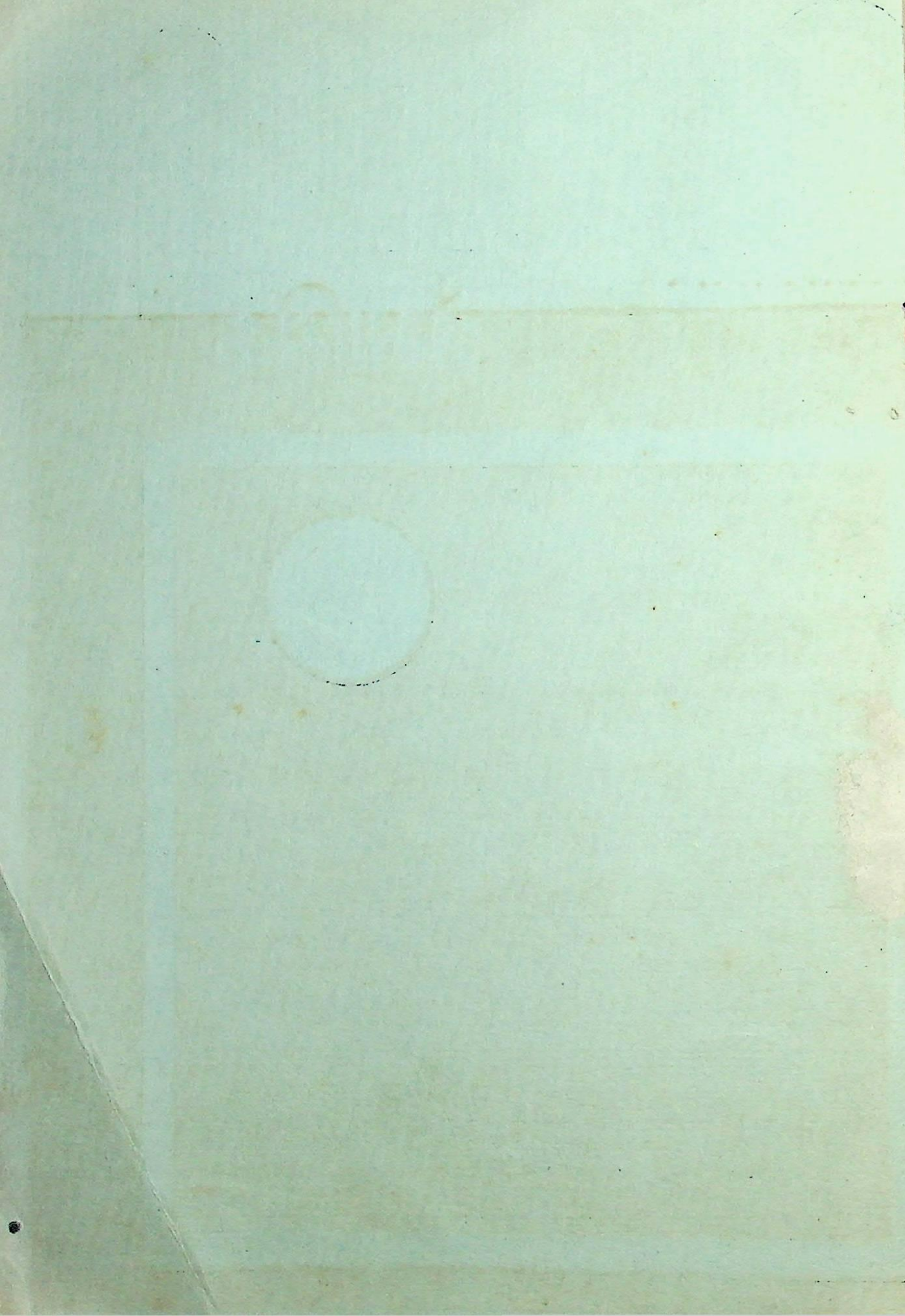
हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक



हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद



हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

संयुक्ताङ्क

भाग ३८
अङ्क ३ व ४

जुलाई-दिसम्बर
सन् १९७७

सम्पादक
डॉ० हरदेव बाहरी

मूल्य : ८ रुपये]

[वार्षिक : १६ रुपये

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

अनुक्रम

●

निराला की छन्दोयोजना

डॉ० गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'

पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' छायावाद के एक विशिष्ट कलाकार थे। यों तो उन्होंने काव्य, कहानी, उपन्यास, निबंध, आलोचना, रेखाचित्र आदि विविध साहित्य-विधाओं पर लेखनी की परिचालना की, पर उनकी कीर्ति काव्य-कृतियों पर ही आधृत है। उनकी तेरह काव्य-कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) परिमल (१९३०), (२) गीतिका (१९३६) (३) अनामिका (१९३८) (४) तुलसीदास (१९३८) (५) कुकुरमुत्ता (१९४२) (६) अणिमा (१९४३) (७) बेला (१९४६) (८) नये पत्ते (१९४६) (९) अर्चना (१९५०) (१०) आराधना (१९५३) (११) गीत-गुंज (१९५४) (१२) सांध्यकाकली (१९६९) (१३) अपरा।

इन ग्रंथों में 'अपरा' संग्रह-ग्रंथ है। अतः उसके छन्दोनिर्धारण की कोई बात ही नहीं उठती। शेष ग्रंथों में 'कुकुरमुत्ता' की केवल इसी नाम की एक कविता तथा 'सांध्यकाकली' के २६ से ६५ गीतों की चर्चा ही वांछनीय है। क्योंकि 'कुकुरमुत्ता' की बाकी सभी कविताएँ 'नये पत्ते' में आ गई हैं और 'सांध्यकाकली' के प्रारंभिक २५ गीत अन्य पुस्तकों में भी प्राप्त होते हैं।

दिनकर ने लिखा है—'बदनाम तो निराला जी इसलिए हुए कि उन्होंने छंदों का बंधन तोड़ कर उसका निरादर किया; लेकिन किसी ने अब तक भी यह नहीं बतलाया कि नये भावों की अभिव्यक्ति के लिये छंदों का अनुसंधान करते हुए उन्होंने कितने पुराने छंदो का उद्धार तथा कितने नवीन छंदों की सृष्टि की है।'[1] हिन्दी साहित्य के इसी अभाव को दूर करने के उद्देश्य से प्रस्तुत निबंध में निराला के समस्त काव्यों का छंदों-निरूपण कर यह देखने का प्रयास किया गया है कि उन्होंने कितने प्रकार के छंदों में

अपने साहित्य को निबद्ध किया है। उनके साहित्य में प्राप्त १०६ छंद हैं, जो निम्न लिखित हैं—

सम मात्रिक—

युग, बाण, अलिपद, धारी मात्रिक, सुगति, अखंड, मुक्ति, तिलका मात्रिक, मधुभार, छवि, निधि, शृंगाराभास, गंग, दीप, ज्योति, नयन, विमोहा मात्रिक, शशिवदना, शिव, अहीर, शिखंडी, तोमर, मालिका, महानुभाव, तांडव, दिग, लीला, पदपदांक, पदपादांकुर, शृंगारकल्य, चंग, लक्ष्मी मात्रिक, मधुमालती, विजात, हाकलि, सखी, कज्जल मनोरम, कोकिला, सुलक्षण, गोपी, चौपई, चौबोला, लीलाधर, उज्जवला मात्रिक, शृंगार, पद्धरि पदपादाकुलक, चौपाई, वसंतमालती, लछिमा, राम, उर्मिला, माली, तारक मात्रिक, लीलावृत अणिमा, पीयूषवर्षी, तमाल, विध्यंकमाला मात्रिक, सुमेरु, रतिवल्लभ, हंसगति, मंजतिलका, अरुण, भुजगंप्रयात मात्रिक, पीयूषराशि, प्रणय, पयूषनिर्झर, कंद मात्रिक, मधुवल्लरी, प्लवंगम-चांद्रायण, साधिका, राधिका, रास, सुखदा, कुंडल, रजनी, निश्चल, हीर, रोला, मंजुतिलकावली, रूपमाला, दिगपाल, शवितपूजा, चंचला मात्रिक सारस, विष्णुपद, गीतिका, दिगंबरी, सरसी, सार, विधाता, हरिगीतिका, माधवमालती, विशुद्धगा, हरिगीतामृत, चतुष्पद, ताटंक, वीर, समान सवैया, मत्तसवैया = १०३

मिश्र छंद

छप्पय = १

वाणिक मुक्तक

अर्चना, मदनहर घनाक्षरी = २

आगे प्रत्येक छंद के उदाहरण लक्षण-सहित प्रस्तुत किये जाते हैं।

(१) युग (४ मा०)

हिल हिल
खिल खिल।

—परिमल : बादल-राग [६]

युग छंद में चार मात्राएँ होती हैं। इसके चरण का निर्माण चार लघु (IIII) या दो लघु और एक गुरु [IIS या SII] से होता है। निराला-साहित्य में इस छंद की केवल दो उक्त पंक्तियाँ मिलती हैं।

(२) बाण [५ मा०]

साथ दो। बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए।

--परिमल : भिक्षुक

मेघमय। आसमान से उतर रही है।

--परिमल : संध्यासुन्दरी

पंचमात्रिक बाण छंद का चरण रगण [ऽ।ऽ] के आधार पर चलता है। निराला-साहित्य में इस छंद का प्रयोग स्वतंत्र रूप से कहीं नहीं हुआ है। केवल उक्त पंक्तियों में पंचमात्रिक लय-खंड [साथ दो, मेघमय] क्रमशः हंसगति और चौपाई के आदि में जोड़ दिया गया है।

(३) अलिपद [६ मा०]

क्षण भंगुर
अविचल उर

--परिमल : प्रार्थना

अलिपद में छह मात्राएं होती हैं। इसके चरण दो त्रिकल अथवा चौकल और द्विकल के योग से बनते हैं। निराला ने इसका प्रयोग अन्य छंदों के साथ [जैसे उक्त पद्य में] तथा स्वच्छंद छंद में किया है। यथा--

(क) वह आता।—परिमल : भिक्षुक
(ख) बहने दो।— " धारा

(४) धारी मात्रिक [६ मा०]

प्रिया साथ।

--बेला : गीत ६७

दो त्रिकल से बने धारी छंद में छह मात्राएं होती हैं। अंत में गुरु-लघु (ऽ।) रहते हैं। निराला-काव्य में इसकी एक ही पंक्ति उपलब्ध होती है।

(५) सुगति (७ मा०)

(क) मैं अकेला (ऽ।ऽऽ)--अणिमा, पद्य ११
(ख) तरु के सुमन (।।ऽ।।।)--परिमल : बादल राग (३)
(ग) सदा अशांति (।ऽ।ऽ।) " दीन
(घ) ऐ निर्बन्ध (ऽऽऽ।)— " बादल राग (२)
(ङ) मौन कुटीर (ऽ।।ऽ।)— " " (३)

सप्तमात्रिक सुगति के चरण त्रिकल-चौकल अथवा चौकल-त्रिकल के आधार पर चलते हैं। त्रिकल-चौकल का कोई भी रूप रह सकता है।[२] निराला-काव्य में सुगति का प्रयोग प्रायः स्वच्छंद छंद में हुआ है।

(६) अखंड (८ मा०)

नील जलधि-जल,
नील गगन-तल,
नील कमल-दल
नील नयन-द्वय।

—अर्चना : ७६

अष्टमात्रिक अखंड छंद के चरण दो चौकलों से निर्मित होते हैं। वस्तुतः यह चौपाई का अर्द्धांश है। इसका स्वतंत्र प्रयोग केवल उक्त गीत के तीन अनुच्छेदों में हुआ है। अन्यत्र इसका प्रयोग अन्य छन्दों के साथ मिश्र रूप में पाया जाता है।

(७) मुक्ति (८ मा०)

नील मोर के
नील नृत्य रे
नील कृत्य से,
नील शवाशय। (अखंड)

—अर्चना ७६

अष्टमात्रिक मुक्ति छंद के चरण दो त्रिकल और एक गुरु के योग से बनते हैं। वस्तुतः यह रगणांत चौपाई का उत्तरांश है।

(८) मधुभार (८ मा०)

निश्चलसमीर।—परिमल : विधवा
वीक्षणअराल।—अनामिका : सम्राट एडवर्ड

अष्टमात्रावादी मधुभार के अंत में ऽ। रखने का विधान है। यह वस्तुतः पद्धरि का उत्तरांश है। निराला-काव्य में इसका प्रयोग स्वच्छंद में ही प्राप्त होता है।

(९) तिलका मात्रिक (८ मा०)

विच्छरित छटा।—अनामिका : सम्राट एडवर्ड
तू ठहर ठहर।—परिमल : शरत् पूर्णिमा

यह वर्णवृत्त तिलका (स स) का मात्रिक रूप है। अतः इसमें आठ मात्राएं होती हैं। यह वस्तुतःपदपादा कुलक का उत्तरांश है।

(१०) छवि (८ मा०)[३]

(क) आह उत्पात।—परिमल : दीन
(ख) दिवस का पार।— " आग्रह

इस छंद का निर्माण एक त्रिकल, एक द्विकल और एक त्रिकल से होता है। यह शृंगार छंद का उत्तरांश है। अतः इसके अन्त में ऽ। के अतिरिक्त ।ऽ भी रह सकता है। इसके चरण केवल स्वच्छंद छंद में मिलते हैं।

(११) निधि (९ मा०)

मुकुल सुरभि-भार।
× ×
भर कर बहु प्यार।
× ×
यह सितार तार।
× ×
स्वर की झंकार।

—गीतिका, गीत २३

नवमात्रिक निधि के चरण का निर्माण तीन त्रिकलों से अथवा छकल और त्रिकल के योग से होता है। अन्त में ऽ। के अतिरिक्त । ऽ और ।।। भी रह सकता है। इसका प्रयोग प्रायः गीतों की टेकों में हुआ है।

(१२) शृंगाराभास (९ मा०)

द्वार यह खोलो—
जरा कुछ बोलो। —परिमल : अंजलि

शृंगाराभास के चरण पंचक और चतुष्क के योग से बनते हैं। शृंगार की अन्तिम ७ मात्राओं को हटा देने से यह छंद बन जाता है। इसका प्रयोग स्वच्छंद छंद में या अन्य छंदों के साथ उपलब्ध होता है।

(१३) गंग (९ मात्रा)

जो प्राण हारे,
छूटे सहारे
मन रहे मारे
तट के किनारे।

—बेला : गीत ९४

गंग छंद सप्तक (ऽऽ। ऽ का आधार) के आगे एक गुरु या दो लघु के योग से बनता है। निराला-साहित्य में इसका प्रयोग अत्यन्त विरल है।

(१४) दीप (१० मा०)

अरि-दल-दलन-कारि,
शंकर, समनुसारि,
पद-युगल-तट वारि,
सरिता, सकल याम।

—अर्चना, गीत १००

दीप का निर्माण दो पंचकों (तगण ऽऽ। आधार) से होता है। अतः अन्त में ऽ। रहता है। निराला के कुछ गीतों में इसके चरण उपलब्ध होते हैं।

(१५) ज्योति या एकावली[४] (१० मा०)

बैठ लें कुछ देर।
मौन मधु हो जाय।
सरल अति स्वच्छन्द।

—परिमल: मौन

दो भिन्न पंचको से बने ज्योति छंद को अंतिम पंचक तगण पर आधृत रहता हैं। प्रथम पंचक चाहे यगण हो या रगण इसका प्रयोग प्रायः गीतों की टेकों में हुआ है।

(१६) नयन (१० मा०)

अधूरी कथाओं
करारी व्यथाओं } —आराधना, गीत ७

दशमात्रिक नयन का निर्माण दो पंचकों (यगण आधार) से होता हैं। निराला-काव्य में इसका प्रयोग केवल उक्त चार पंक्तियों में हुआ है।

(१७) विमोहा मात्रिक (१० मा०)

पार संसार के
विश्व के हार के
दुरित संभार के
नाश के क्षार के।

—अर्चना, गीत २६

दो रगणों से बने विमोहा वर्णवृत्त का यह मात्रिक रूप है। अतः इसमें १० मात्राएँ होती हैं। अन्त में । ऽ रहता है। निराला ने इसका प्रयोग कई पुस्तकों में किया है।

टिप्पणी—दीप, विमोहा और ज्योति का प्रयोग निराला ने अनेक स्थलों पर किया है। पर इनमें किसी का स्वतंत्र प्रयोग शायद ही कहीं मिले। अधिकतर इन तीनों का मिश्रित प्रयोग ही दृष्टिगोचर होता है।

(१८) शशिवंदना (१० मा०)

अपनापन भूला,
प्राण-शयन झूला,
बैठी तुम चितवन से संचर (चौपाई)
छाये घन अंबर।

—अनामिका: वारिद-वंदना

समप्रवाही शशिवंदना छंद में १० मात्राएँ होती हैं। इसका निर्माण ४+४+२ मात्राओं से होता है। इसका स्वतंत्र प्रयोग नहीं हुआ। मिश्र और स्वछंद छंद में इसके चरण उपलब्ध होते हैं।

(१९) शिव (११ मा०)

अपना जपना रहा
सत्य कल्पना रहा,
यौवन सपना रहा,
ज्ञान वही धो गया ।
—आराधना: गीत ६५

त्रिकल-षट्क (छकल) के आधार पर चलने वाले शिव छंद में ११ मात्राएँ होती हैं। अंत में ऽ रहता है। इसकी पंक्तियाँ स्वच्छंद छंद में और गीतों की टेकों में उपलब्ध होती हैं।

(२०) अहीर (११ मा०)

टूट गई पतवार—
जीवन-खेवनहार।
—परिमल: खेवा

समप्रवाही अहीर में ११ मात्राएँ होती हैं। अं में ऽ। रहता है। इसकी पंक्तियाँ स्वच्छंद छंद में तथा टेकों में देखी जाती हैं।

(२१) शिखंडी (११ मा०)

सामने बैठे हो— बेल। गीत ३०
लक्ष्य पर आँखें हैं।—,, ,, ३१

एकादशमात्रापादी शिखंडी का निर्माण श्रृंगार छंद की अन्तिम ५ मात्राओं को हटा कर हुआ है। इसकी पंक्तियाँ स्वच्छंद छंद में कहीं-कहीं दिखलाई पड़ जाती हैं।

(२२) तोमर (१२ मा०)

तम-गहन-जीवन घेर।
जल-बिन्दु-सा बह जाय।
रह जाय चुप निर्द्वंद।
—परिमल: मौन

तोमर में १२ मात्राएँ होती हैं। अन्त में ऽ। रहता है। निराला के सम्पूर्ण साहित्य में इसकी केवल पाँच पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

(२३) मालिका (१२ मा०)

कह रहा हू जो कथा,
बज रही उसकी व्यथा

× ×

बनो वासंती मृदुल
पत्रिका तरु की अतुल ।
——गीतिका, गीत ६२

सप्तक (ऽ।ऽऽ) के आधार पर चलने वाली मालिका में १२ मात्राएँ होती हैं। यह वस्तुतः गीतिका-हरिगीतिका का उत्तरांश है। इसकी छिटपुट पंक्तियाँ स्वच्छंद छंद और गीतो में प्राप्त होती हैं।

(२४) महानुभाव (१२)

जलद-पयोधर--भारा,
रवि-शशि-तारक हारा,
व्योम-मुखच्छवि सारा,
शतधारा पथ-हीना ।
——अर्चना, गीत ६१

समप्रवाही महानुभाव में १२ मात्राएँ होती हैं। इसका स्वतंत्र प्रयोग केवल उक्त गीत में हुआ है। इसके अतिरिक्त सर्वत्र इसकी पंक्तियाँ अन्य छंदों के साथ पाई जाती हैं।

(२५) तांडव (१२ मा०)

भला इस गति का शेष ।—— परिमल, अधिवास
स्वार्थ ही से भरपूर ।—— ,, दीन

द्वादशमात्रिक तांडव के आदि में त्रिकल और अन्त में ऽ। रहते हैं। शृंगार की अन्तिम चार मात्राओं को हटा देने से यह बन जाता है। इसकी पंक्तियाँ केवल स्वच्छंद छंद में पाई जाती हैं।

(२६) दिग (१२ मा०)

श्रम से भरा हुआ है,
पढ़ कर मरा हुआ है,
डूबा तारा हुआ है,
मैं कौन प्राण आनूं।
—सांध्यकाकली, गीत ५६

दो पंचकों (तगण और रगण) और गुरू के योग से बने दिग छंद में १२ मात्राएँ होती हैं। यह दिगपाल छंद का आधा है। उक्त गीत में इसका स्वतंत्र प्रयोग हुआ है।

(२७) लीला (१२ मा०)

शाख शाख तनी तान
विपिन-विपिन खिले गान,
खिंचे नयन-नयन प्राण,
गंध-गंध सिंची गली।
——अर्चना, गीत २८

लीला के चरण का निर्माण चार त्रिकलों से होता है। दो त्रिकलों की जगह एक षट्कल भी आ सकता है। इसके अंत में ऽ।, ।ऽ, ।।। सब मिलते हैं। निराला ने इसका विशद प्रयोग किया है।

(२८) पदपदाक (१२ मा०)

रे, कुछ न हुआ, तो क्या?
जग धोका, तो रो क्या?
होता क्या, फिर हो क्या?
जो धुला, उसे धो क्या?

—गीतिका, गीत ४९

पदपदांक के चरणों का निर्माण एक अष्टक (दो चौकल या द्विकल + २ त्रिकल) और एक चतुष्कल (चौकल) के योग से होता है। पद्धरि-पदपादाकुलक की अंतिम चार मात्राओं को निकाल देने से यह बन जाता है। निराला-काव्य में इसकी दो-चार पक्तियाँ मिलती हैं।

(२९) पदपदांकुर (१३ मा०)

दिवसावसान का समय। परिमल, संध्यासुंदरी
है गूँज रहा सब कहीं। ,, ,,

पदपादांकुर के चरणों का निर्माण एक अष्टक (दो चौकल या द्विकल + २ त्रिकल) और एक पंचक (द्विकल + त्रिकल) के योग से होता है। पद्दरि-पदपादाकुलक की अंतिम तीन मात्राओं को हटा देने से यह बन जाता है। इसकी पंक्तियाँ 'तुम और मैं' में तथा स्वच्छंद छंद में प्राप्त होती हैं।

(३०) शृंगार-कल्प (१३ मा०)

यहाँ है सदा उठाना। परिमल : दीन
सिद्धि की मधुर दृष्टि का। ,, रास्ते के फूल से

शृंगार-कल्प के चरणों का निर्माण पंचक + अष्टक (अखंड) के योग से होता है। शृंगार की अंतिम तीन मात्राओं को हटा देने से यह बन जाता है। इसकी पंक्तियाँ स्वच्छंद छंद में और गीतों में यत्र-तत्र उपलब्ध होती हैं।

(३१) चंग (१३ मा०)

चंग चढ़ी थी हमारी, (चंग)
तुम्हारी डोर न टूटी ;(शृंगार कल्प)
आँख लगी जो हमारी (चंग)
तुम्हारी कोर न छूटी। (शृंगार कल्प)

—अर्चना, गीत २२

चंग छंद का निर्माण २ त्रिकल + १ द्विकल + १ पंचकल से होता है। यह वस्तुतः गलात्मक (ऽ।) अंतवाली लीला के अंतिम लघु को गुरु कर देने से बन जाता है। इसका प्रयोग केवल उक्त गीत में शृंगार-कल्प के साथ हुआ है।

(३२) लक्ष्मी मात्रिक (१३ मा०)

विहग-कुल-कंठ उपवीत
छिप गये जन्तु भयभीत
--बेला, गीत १

यह वर्णवृत्त लक्ष्मी (र र ग ल) का मात्रिक रूप है। यहाँ मात्रिक रूप देने के लिये तीसरी पंक्ति में रगण की जगह यगण (नहा कर) का प्रयोग किया गया है।

(३३) मधुमालती (१४ मा०)

प्रिय, अंत और अनंत के,
मन सरलता की बाढ़ में,
उत्थान-पतनाघात में।
परिमल : मौन

मधुमालती का चरण दो सप्तकों (ऽ ऽ । ऽ का आधार) से बनता है। निराला-काव्य में इसकी पाँच पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

(३४) विजात (१४ मा०)

तुम्हारी छाँह है, छल है,
तुम्हारी बाल है, बल है,
—अर्चना : गीत १०७

विजात के चरण का निर्माण दो सप्तकों (।ऽ ऽ ऽ) से होता है। यह विधाता छंद का अर्द्धांश है। निराला-काव्य में इसका प्रयोग स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में प्राप्त होता है।

(३५) हाकलि (१४ मा०)

नयनों में हँस-हँस जाती
कौन, न मर्म समझ पाती,
मौन कौन डर में गाती।
आओ ह प्राणों के धन !
—गीतिका, गीत ६४

समप्रवाही हाकलि में १४ मात्राएँ होती हैं। चौपाई की अंतिम दो मात्राओं को निकाल देने से यह छंद बन जाता है। निराला ने इसका प्रयोग स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में किया है।

(३६) सखी (१४ मा०)

प्रिय, नील-गगन-सागर तिर,
चिर, काट तिमिर के बंधन,
उतरो जग में, उतरो फिर
भर दो, पग-पग नव स्पंदन।

परिमल : वासंती।

सखी के चरण का निर्माण अष्टक (दो चौकल या द्विफल+२ त्रिकल) और षट्क (छह मात्राएँ) के योग से होता है। पदपादाकुलक की अंतिम दो मात्राओं को निकाल देने से यह छंद बन जाता है। स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में इसका प्रयोग मिलता है।

(३७) कज्जल (१४मा०)

देख रहा तू भूल शूर। गीतिका प्रारंभ
वज्रघोष से ऐ प्रचंड। परिमल: बादलराग (२)
मध्य देश में गड़ाकेश। ,, ,, (४)
रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष। ,, ,, (६)

कज्जल के चरण का निर्माण षट्कल और अष्टकल के योग से होता है। पद्धरि की प्रारंभिक दो मात्राओं को हटा देने से यह बन जाता है। निराला-काव्य में स्वच्छंद छंद के अंतर्गत इसकी कतिपय पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

(३८) मनोरम (१४ मा०)

कांत हैं कांतार दुर्मिल,
सुघर स्वर से अनिल ऊर्मिल,
मीड़ से शतमोह धूमिल
तार से तारक कलाधर।

—अर्चना : गीत ७२

मनोरम के चरण का निर्माण दो सप्तकों (ऽ।ऽऽ)से होता है। मनोरम का प्रयोग स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में प्राप्त होता है।

(३९) कोकिला (१४ मा०)[५]

तिमिरबरण हुई इसलिए,
पलकों के द्वार दे दिए,

—अर्चना, गीत १५

कोकिला के चरण का निर्माण दो षष्ठकलों और एक गुरु के योग से होता है। लीला के अंत में दो मात्राओं को जोड़ देने से यह छंद बन जाता है। इसका प्रयोग स्वतंत्र रूप से नहीं, अन्य छंदों के साथ हुआ है।

(४०) सुलक्षण (१४ मा०)

जगत के जन्मगत अधिकार
आये बंध के इस पार,
छूटा स्वच्छ कारागार।
—सांध्यकाकली, गीत ५४

सुलक्षण के चरण का निर्माण दो सप्तकों (SSS।)के योग से होता है। निराला-काव्य में उक्त स्थल के अतिरिक्त इसकी पंक्तियाँ गीत की टेकों तथा स्वच्छंद छंद में प्राप्त होती हैं।

(४१) गोपी (१५ मा०)

दिशाओं के सहस्र-दश दल,
खुल गये नये-नये कोमल,
मध्य तुम बैठी चिर अचपल,
—गीतिका, गीत ७१

गोपी का निर्माण पंचक के बाद अष्टक और गुरु रखने से होता है। शृंगार के अंतिम लघु को हटा देने से यह छंद बन जाता है। इसका स्वतंत्र प्रयोग निराला ने कहीं नहीं किया। यह अधिकतर शृंगार के साथ प्रयुक्त हुई है।

(४२) चौपई (१५ मा०)

कँपा त्रस्त अंबर के छोर,
उठा लाज की सरल हिलोर,
×
स्वप्न-जटित जीवन कैशोर,
उच्छृंखलता की गह डोर।
—परिमल : प्रथम प्रभात।

समप्रवाही चौपई में १५ मात्राएँ होती है। द्विगुर्वन्त (SS) चौपाई के अंतिम गुरु को लघु कर देने से यह छंद निर्मित हो जाता है। निराला ने इसका बहुत विरल प्रयोग किया है।

(४३) चौबोला (१५ मा०)

और परार्थ वही जो रहे। —परिमल : दीन
जग के अंतस्थल से उमड़। — ,, बादलराग (४)

द्विगुर्वन्त (SS) चौपाई के प्रथम गुरु को लघु कर देने से चौबोले का निर्माण होता है। इसके अंत में ।S आवश्यक है। पर आजकल नगण (।।।) भी प्रयोग में देखा जाता है। इसकी ये ही कतिपय पंक्तियाँ निराला-साहित्य में देखी जाती हैं।

(४४) लीलाधर (१५ मा०)

गये सब पराग, नहीं ज्ञात,
शून्य डाल, रही अंध रात, } —गीतिका, २३

× ×

बहता है, भौंरा मधु-मुग्ध,
कहता अति चकित चित्त क्षुब्ध । } —परिमल, बदला

लीलाधर का चरण पाँच त्रिकलों से निर्मित होता है। अंत में ऽ। रहता है। दो त्रिकलों की जगह एक षट्कल रखने के कारण ऊपर की तीसरी पंक्ति चौपई की-सी प्रतीत होती है। इसका प्रयोग निराला-काव्य में अत्यंत विरल है।

(४५) उज्ज्वला मात्रिक (१५ मा०)

गहरी विभावरी शीत की,
× ×
कुकुहाया, सिहरी शीत की,
× ×
सुधि सारी बिखरी शीत की,
× ×
दुहरी डगर भरी शीत की।

—सांध्यकाकली, ४०

यह वर्ण वृत्त उज्ज्वला(न न भ र) का मात्रिक रूप है। उल्लाला के आदि में दो मात्राओं को जोड़ देने से यह बन जाता है। टेक के रूप में ये ही चार पंक्तियाँ निराला-काव्य में मिलती हैं।

(४६) शृंगार (१६ मा०)

वृंत पर टलमल उज्ज्वल प्राण,
नवल-यौवन-कोमल नव ज्ञान,
सुरभि से मिला आशु आह्वान,
प्रथम फूटा प्रिय मेरा गान।

—परिमल : भ्रमरगीत

शृंगार के चरण का निर्माण पंचक के बाद अष्टक और त्रिकल रखने से होता है। अंत में ऽ। रहता है, पर ।ऽ भी रह सकता है।[६] यथा—

कौन उसको धीरज दे सके। परिमल, पृ० १०१
मोतियों की मानो है लड़ी। ,, १३४

शृंगार का प्रयोग स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में हुआ है।

(४७) पद्धरि (१६ मा०)

करता रह-रह वह विकल प्राण
उठता जग जो बहु जन्म-गान
जीवन का, खो-खो दिशा-ज्ञान

—गीतिका, गीत ८८

पद्धरि का निर्माण दो अष्टकों (२ चौकल या द्विकल + २ त्रिकल) से होता है। अंत में ऽ। रहता है। पद्धरि का स्वतंत्र प्रयोग निराला ने कहीं नहीं किया है। प्रायः पद पादाकुलक के साथ यह अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।

(४८) पदपादाकुलक (१६ मा०)

अति सुकृत भरे ्ो सहज करे,
जल-थल नभ पर निर्भय विचरे।
शशि से उतरे, रस पर छहरे,
पत्तों में ध्वज-पताक फहरे।

—बेला, गीत ७१

पदपादाकुलक में १६ मात्राएं होती हैं। इसका निर्माण भी पद्धरि के ढंग पर ही होता है। अंतर केवल अंतिमांश को लेकर है। इसके अंत में, पद्धरि के विपरीत, ।ऽ तो रहता ही है, ऽऽ और ।। भी रहते हैं। इसका प्रयोग स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में प्राप्त होता है।

(४९) चौपाई (१६ मा०)

चली स्नान-हित शोभा वलयित,
गीत सदृश चित प्रिय-छवि-निर्मित,
क्षालित शत-तरंग-तनु-पालित
अवगाहित निकली द्युति निर्मल।

—गीतिका, गीत ८३

चौपाई का निर्माण समात्कम (दो चौकल) या विषमात्मक (२ त्रिकल + द्विकल) दो अष्टकों से होता है। निराला ने चौपाई का दोनों रूपों में विशद प्रयोग किया है।

(५०) लघिमा (१६ मा०)

सही आँख तुम्हीं दिखे पहले,
नहले पर तुम्हीं रहे दहले,

—अर्चना, गीत ५८

छन-छन कर पुलकित धरणीतल
बहती है वायु, मुक्त कुंतल।

—परिमल, पारस

लघिमा छंद का निर्माण चार त्रिकल और एक चौकल के योग से होता है। अधिक षट्कल के प्रयोग से इसकी पंक्ति चौपाई की-सी प्रतीत होती है। (यथा—५वीं पंक्ति) लछिमा का स्वतंत्र प्रयोग केवल 'सांध्यकाकली' के दो गीतों (५२, ६०) में हुआ है।

(५१) वसंतमालती (१६ मा०)

आओ, एक पथ के पथिक से।

× ×

भाषा मूकता की आड़ में।

× ×

जीवन-प्रात के लघु-पात से।

—परिमल : मौन

वसंत मालती के चरण का निर्माण मधुमालती के आदि में दो मात्राओं के योग से होता है। निराला-काव्य में इसकी यही तीन पंक्तियाँ मिलती हैं।

(५२) राम (१७ मा०)

दलित भारत की ही विधवा है। —परिमल : विधाता
स्वार्थ का मारा यहाँ भटकता। — ,, पहचाना

राम छंद के चरण का निर्माण पंचक के बाद अष्टक और चौकल (महानुभाव) रखने से होता है। इसकी अनेक पंक्तियाँ स्वच्छंद छंद में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती हैं।

(५३) उर्मिला (१७ मा०)

हरे उर-पट, फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक चली मंद मराल,
गेह में प्रिय-स्नेह की जयमाल।

—गीतिका, गीत २

उर्मिला के चरण का निर्माण दूसरे सप्तक (ऽ।ऽऽ) की दो आवृत्तियों और गुरु-लघु के योग से होता है।[७] निराला-काव्य में इसका प्रयोग केवल दो स्थलों (गीतिका २, अणिमा ४१) पर हुआ है।

(५४) अणिमा (१७ मा०)

ज्ञात रश्मि गात चूम रे गई,
बंधी हुई खुली भावना नई,
गई दूर दृष्टि जो सुखाशयी

—गीतिका : गीत ९४

इसके चरण का निर्माण ४ त्रिकल और १ पंचक से अथवा ६+६+५ मात्राओं के क्रम से होता है।[८] भिखारी दास ने इसे हीर की कहा है।[९] यह वर्णवृत्त श्योनिका (र ज र ल ग) का मात्रिक रूप भी माना जा सकता है। इसका प्रयोग अन्य छंदों के साथ मिश्र रूप में निराला की प्रायः सभी पुस्तकों में मिलता है।

(५५) माली (१८ मा०)

हाँ, उस कानन में खिले हुए तुम। —परिमल : पहचाना,
जहाँ हाय ! केवल श्रम, केवल श्रम।— ,,विस्मृत भीर

समप्रवाही मालीं में १८ मात्राएं होती हैं।[10] चौपाई के अंत में दो मात्राओं के योग से यह बन जाता है। निराला-काव्य में इसका प्रयोग केवल स्वच्छंद छंद में दृष्टिगोचर होता है।

(५६) तारक मात्रिक (१८ मा०)

संकुचित एक लज्जित गति है वह।—परिमल : बहू

जब बढ़ी अर्घ्य देने को तुमको।— ,, विफलवासना

यह वर्णवृत्त तारक (स स स स ग) का मात्रिक रूप है। पदपादाकुलक के अंत में एक गुरु के योग से यह बन जाता है। निराला-काव्य में इसका प्रयोग प्रायः स्वच्छंद छंद में ही दृष्टिगोचर होता है।

(५७) लीलावृत्त (१८ मा०)

ऐसी ही एक बात चलती है,
घात खड़ी खड़ी हाथ मलती है;
तभी सही-सही दाल गलती है।
—अर्चना, गीत ४५

लीलावृत्त का निर्माण चार त्रिकल और एक षट्कल से होता है। इसका स्वतंत्र और मिश्र दोनों प्रकार के प्रयोग निराला ने किये हैं।

(५८) पीयूषवर्षी (१९ मा०)

तू किसी के चित्त की है कालिमा
या किसी कमनीय की कमनीयता?
या किसी दुख-दीन की है आह तू
या किसी तरु की तरुण वनिता-लता?
—परिमल : माया

पीयूषवर्षी का निर्माण सप्तक (ऽ।ऽऽ) की दो आवृत्तियों और एक पंचक (रगण आधार) के योग से होता है। बसका प्रयोग दोनों रूपों में हुआ है।

(५९) तमाल (१९ मा०)

(क) निर्झरिणी की-सी विकास की लास—
गिरि-गह्वर में फूट रही सोच्छ्वास।
—परिमल : प्रथम प्रभात

समप्रवाही तमाल में १९ मात्राएं होती हैं। चौपाई के अंत में ऽ। के योग से यह बन जाता है। (ख) में दिनकर ने बरवै छंद माना है।[11] बरवै अर्द्धसम छन्द है जिसमें १२–९ मात्राएँ होती हैं। (ख) में ऐसी बात नहीं। अतः इसमें बरवै छन्द मानना ठीक नहीं। इसका प्रयोग स्वतंत्र रूप से कहीं नहीं हुआ है।

(६०) सुमेरु (१९ मा०)

कहाँ की मित्रता, वे हँस के बोले,
न कोई जब कि दिल की गाँठ खोले।
बुरा दुश्मन से है जो जी को भाया,
खरा काँटा कली की आँख तोले।

—बेला : गीत २७

(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

सुमेरु का निर्माण सप्तक (ISSS) की दो आवृत्तियों और एक पंचक (यगण आधार) के योग से होता है। निराला के संपूर्ण साहित्य में सुमेर में निबद्ध यही उक्त गीत मिलता है।

(६१) विध्वंकमाला मात्रिक (१९ मा०)

तिल नीलिमा को रहे स्नेह से भर
जग कर नई ज्योति उतरी धरा पर
रँग से भरी है हरी हो उठी हर।

—अनामिका : अपराजिता

यह वर्णवृत्त विध्वंकमाला (त त त ग ग) का मात्रिक रूप है। इसकी यही तीन पंक्तियाँ मंजुतिलकावली के साथ पाई जाती हैं।

(६२) रतिवल्लभ (१९ मा०)

काशी बिना शांति का वास भी है ?
क्षिति नहीं तो अचल विश्वास भी है ?

—सांध्यकाकली : गीत ६१

रतिवल्लभ में १९ मात्राएं (५+५+५+४) होती है।[१२] निराला-काव्य में इसका प्रयोग केवल गीत में हुआ है।

(६३) हंसगति (२० मा०)

मैं क्या जानूं है यह कितनी सुंदर,
भरी हुई उतनी ही तीव्र पियासा।

—परिमल : जागो।

हंसगति का स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में प्रयोग हुआ है।

(६४) मंजुतिलका (२० मा०)

विपदा-हरण हार हरि हे करो पार।
प्रणय से जो कुछ चराचर तुम्हीं सार।

—आराधना, गीत २१

चार पंचकों (तगण आधार) का मंजुतिलका छंद होता है। स्वच्छंद रूप में इसका प्रयोग केवल आराधना के उक्त गीत में हुआ है।

(६५) अरुण (२० मा०)

वेग चल, वेग चल, आयु घटती हुई,
प्रमुद पद की सुखद वायु कटती हुई।

—अर्चना, गीत ६८

अरुण का निर्माण चार पंच (रगण आधार) से होता है। इसका प्रयोग दोनों रूपों में हुआ है।

(६६) योग (२० मा०)

साथ छूटा स्वजनों का पाँख फिर गई,
चली हुई पहली वह राह घिर गई।

—अर्चना, गीत २३

योग का निर्माण ६ त्रिकलों और १ गुरु के योग से होता है। इसका प्रयोग दोनों रूपों में हुआ है।

(६७) भुजंगप्रयात मात्रिक (२० मा०)

हजारों जवानों की जानों लड़े हैं।
कहीं चोट खाई की कोसों बढ़े हैं।

—आराधना : गीत ७

यह भुजंगप्रयात (४ यगण) का मात्रिक रूप है। आराधना, अर्चना और बेला के कुछ गीतों में इसका प्रयोग हुआ है।

(६८) पीयूषराशि (२० मा०)

ज्ञान-गंगा में, समुज्ज्वल-चर्मकार,
चरण छूकर कर रहा मैं नमस्कार।

—अणिमा : संतकवि रविदास

दो सप्तक (ऽ।ऽऽ) और एक षट्क (ऽ।ऽ।) के योग से इसका निर्माण होता है।[१३] निराला-काव्य में इसकी केवल ३ पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

(६९) प्रणय (२१ मा०)

प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृंगार।
और मुखर पायल स्वर करें बार-बार।

—गीतिका : गीत ६

सात त्रिकलों से (दो त्रिकलों की जगह एक षट्क भी) से प्रणय का निर्माण होता है।[१४] इसकी पंक्तियाँ अन्य छंदों के साथ दृष्टि गोचर होती हैं।

(७०) पीयूषनिर्झर (२१ मा०)

नहीं जिसका अर्थ—जीवन दह गया है।
मैं अलक्षित हूं, यही कवि कह गया है।

—अणिमा : गीत २४

पीयूषनिर्झर का निर्माण सप्तक (ऽ।ऽऽ) की तीन आवृत्तियों से होता है। निराला-काव्य में इसकी केवल तीन पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

(७१) कंद मात्रिक (२१ मा०)

मैली हुई मालिनी की मृदुल शैल।
उड़ी आसमाँ के खुरी धूल की गैल।

—आराधना : गीत ७

यह वर्णवृत्त कंद (य य य य ल) का मात्रिक रूप है। निराला-काव्य में इसकी केवल तीन पंक्तियाँ मिलती है। प्रथम पंक्ति के आदि में एक लघु चाहिए।

(७२) मधुवल्लरी (२१ मा०)

यह दुःख वह जिसका नहीं कुछ छोर है।
जो अश्रु, भारत का उसी से सर गया।

—परिमल : विधवा

मधुवललरी का निर्माण सप्तक (ऽऽ।ऽ) की तीन आवृत्तियों से होता है। निराला-काव्य में इसकी केवल दो पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

(७३) प्लवंगम-चांद्रायण (२१ मा०)

वन नव वसंत की किसलय कोमललता (प्लवंगम)

—परिमल : वहू

कुछ भी हो, तू ठहर देख लूँ नजर भर। (चांद्रायण)

—परिमल : शरत् पूर्णिमा

समप्रवाही प्लवंगम और चांद्रायण दोनों में २१-२१ मात्राएं होती हैं। प्रथम में आठवीं और दूसरे में ग्यारही मात्रा पर विश्राम होता है। इनकी पंक्तियाँ स्वच्छंद छंद में ही प्राप्त होती हैं।

(७४) साधिका (२१ मा०)

वह दीप शिखा-सी शांत, भाव में लीन।
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन।

—परिमल : विधवा

इसका निर्माण दो अष्टकों (२ चौकल या द्विकल + २ त्रिकल) और एक पंचक (प्रायः तगण) के योग से होता है। साधिका का प्रयोग स्वच्छंद छंद में हुआ है।

(७५) राधिका (२२ मा०)

वह इष्ट देव के मंदिर की पूजा-सी।
वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति रेखा-सी।

—परिमल : विधवा।

इसका निर्माण दो अष्टक और एक षट्क के योग से होता है। इसका प्रयोग भी स्वच्छंद छंद में ही प्राप्त होता है।

(७६) रास (२२ मा०)

देख चुका जो जो आये थे, चले गये;
मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब भले गये।

—परिमल : वृत्ति

चौपाई के अंत में एक षट्क या दो त्रिकल के योग से होता है। निराला-काव्य में इसकी कुछ ही पंक्तियाँ मिलती हैं।

(७७) सुखदा (२२ मा०)

मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को। —परिमल : भिक्षुक
विद्युत-छवि उर में, कवि, नव जीवन वाले। —अनामिका। उत्साह

समप्रवाही सुखदा में १२-१० मात्राएं होती हैं। निराला-काव्य में इसका प्रयोग अत्यंत विरल है।

(७८) कुंडल (२२ मा०)

पापों के शुद्धिकरण चारु चरण धोये,
तुम्हीं अखिलवेश-वरण विश्व-शरण रोये।

—बेला : गीत ३७

इसका निर्माण ६ त्रिकल और एक चतुष्कल के योग से होता है। इसका प्रयोग अन्य छंदों के साथ हुआ है।

(७९) रजनी (२३ मा०)

फिर किधर को हम बहेंगे तुम किधर होगे
कौन जाने फिर सहारा तुम किसे दोगे।

—परिमल : निवेदन

रजनी का निर्माण तीन सप्तक (ऽ।ऽऽ) और एक गुरु से होता है।[१४] निराला-काव्य में इसका प्रयोग अत्यंत विरल है।

(८०) निश्चल (२३ मा०)

काल-वायु से स्खलित न होंगे कनक प्रसून?
क्या पलकों पर विचरे ही गी यौवन-धूम?

—परिमल : युक्ति

चौपाई के बाद एक सप्तक (ऽऽऽ।) रख देने से निश्चल का निर्माण हो जाता है। इसकी कुछ पंक्तियाँ मिश्र और स्वच्छंद छंद में पायी जाती हैं।

(८१) हीर (२३ मा०)

कण-कण कर कंकण, प्रिय, किणकिण रव किंकिणी,
रणन रणन नूपुर उर लाज लौट रंकिणी

—गीतिका : गीत ६

हीर के चरण का निर्माण ७ त्रिकलों और १ गुरु के योग से होता है। निराला-काव्य में इसकी कुछ ही पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

(८२) रोला (२४ मा०)

अमा निशा थी समालोचना के अंबर पर
उदित हुए जब तुम हिंदी के दिव्य कलाधर।

—अणिमा : १५ श्रद्धांजलि।

समप्रवाही रोला में सामान्यतः ११-१३ पर विश्राम के साथ २४ मात्राएं होती हैं। पर, १२-१२ और ८-८-८ पर भी विराम देखा जाता है। निराला ने रोला का प्रयोग स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में किया है।

(८३) मंजुतिलकावली (२४ मा०)

नभ कर गई पार पाखें परी नागरी की।
तरु की तरुण-तान शाखें परी नागरी की।

—अनामिका : अपराजिता

इस छंद का निर्माण चार पंचक (तगण आधार) और १ चौकल (ऽऽ) के योग से होता है। इसकी केवल तीन पंक्यिताँ प्राप्त होती हैं।

(८४) रूपमाला (२४ मा०)

बहु सुमन, बहुरंग निर्मित एक सुंदर हार;
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा-भार।

—गीतिका : गीत २२

तीन सप्तक (ऽ।ऽऽ) और एक त्रिकल (ऽ।) से रूपमाला का निर्माण होता है। दोनों रूपों में इसका प्रयोग निराला-काव्य में उपलब्ध होता है।

(८५) दिगपाल (२४ मा०)

जीवन-प्रदीप चेतन तुमसे हुआ हमारा,
ज्योतिष्क का उजाला ज्योतिष्क से उतारा।

—बेला : गीत २६

दिगपाल में १२-१२ पर विश्राम देकर २४ मात्राएं होती हैं। १२ मात्रिक खंड का नर्माण तगण, रगण और गुरु के योग से होता है। इसका प्रयोग बेला के तीन गीतों (२६, ८१, ८२) में हुआ है।

(८६) शक्तिपूजा (२४ मा०)[१६]

है नहीं शरासन आज हस्त —तूणीर स्कंध,
वह नहीं सोहता निविड़ जटा —दृढ़ मुकुटबंध।

—अनामिका : राम की शक्तिपूजा

तीन पद्धरि-अष्टक से शक्तिपूजा छंद का निर्माण होता है। उक्त कविता के अतिरिक्त इसकी पंक्तियाँ स्वच्छंद छंद में प्राप्त होती हैं।

(८७) चंचला मात्रिक (२४ मा०)

प्रतिपल तुम ढाल रहे सुधा-मधुर ज्योति-धार;
अर्पित हैं चरणों पर मेरा यह हृदय हार।
—परिमल : पारस

यह वर्णवृत्त चंचला(र ज र ज र ल)का मात्रिक रूप है। उक्त कविता के अतिरिक्त इस छंद का प्रयोग बेला के गीत ७९ में हुआ है।

(८८) सारस (२४ मा०)

पीठ न दी अरि को, निःशरण किया मृत्यु-वरण,
इसी भाव से आया जीवन का सिन्धु-तरण
बेला : गीत ७९

सारस का निर्माण ८ त्रिकलों से होता है। अंत में ।।। या ।ऽ रहता है, ऽ। नहीं। निराला-काव्य में इसकी पंक्तियाँ छिटपुट रूप में दो-एक कविताओं में मिल जाती हैं।

(८९) विष्णुपद (२६ मा०)

जीवन प्रात समीरण-सा लघु विचरण-निरत करो।
तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता छवि-मधु-सुरभि भरो।
—परिमल : प्रार्थना

समप्रवाही विष्णुपद चौपाई और शशिवदना के चरणों के योग से बनता है। इसका स्वतंत्र प्रयोग निराला-काव्य में नहीं मिलता।

(९०) गीतिका (२६ मा०)

मन हमारा मग्न दुख की दुर्धरा में हो गया।
कुछ न था वह लग्न तब विश्वंभरा में हो गया।
—बेला : गीत ८७

गीतिका का निर्माण ३ सप्तक (ऽ।ऽऽ) और १ पंचक (रगण आधार) से होता है। इसका प्रयोग बेला के ५ गीतों (५८, ५९, ६०, ६६, ८७) में हुआ है। स्वच्छंद छंद तथा अन्य गीतों में भी यह प्रयुक्त हुई है।

(९१) दिगंबरी (२६ मा०)[१७]

तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।
—परिमल : भिक्षुक।

दिगंबरी का निर्माण ३ सप्तक (।ऽऽऽ) और १ पंचक (यगण आधार) से होता है। निराला-काव्य में इसकी केवल उक्त पंक्ति प्राप्त होती है।

(९२) सरसी (२७ मा०)

क्या है, कुछ भी नहीं, ढो रहा व्यर्थ साधना-भार,
एक विफल रोदन का है यह हार—एक उपहार।

—परिमल : क्या दूं ?

समप्रवाही सरसी का निर्माण चौपाई और अहीर के चरणों के योग से होता है। उक्त कविता में स्वतंत्र प्रयोग के अतिरिक्त इसका प्रयोग स्वच्छंद छंद में भी प्राप्त होता है।

(९३) सार (२८ मा०)

मेरे इस जीवन की है तू सरस साधना कविता,
मेरे तरु की है तू कुसुमित प्रिये, कल्पना-लतिका।

—अनामिका : प्रिया से

समप्रवाही सार का निर्माण चौपाई और महानुभाव के चरणों के योग से होता है। निराला ने इसका स्वतंत्र प्रयोग बहुत कम किया है। अधिकतर स्वच्छंद छंद में ही इसकी पंक्तियाँ पाई जाती हैं।

(९४) विधाता (२८ मा०)

तुम्हारी दृष्टि ही है—ज्ञान से जकड़ा हुआ सागर,
मथा फिर देव-असुरों ने समझकर रत्न का आकर।

—अणिमा : पद्य ३३

विधाता का निर्माण ४ सप्तकों (ISSS) से होता है। इसका स्वतंत्र प्रयोग अणिमा (२९, ३३) तथा बेला के गीतों (५३,५४,५५,५६,५७) में हुआ है।

(९५) हरिगीतिका (२८ मा०)

कर-फूल-माला-थाल, सखियाँ तीज पूजन को चलीं,
वर बजे बाजे, द्वार साजे, भक्ति से पति की गली।

—आराधना : गीत ९६

हरिगीतिका निर्माण ४ सप्तकों (SSIS) से होता है। इसका प्रयोग स्वतंत्र रूप से केवल उक्त पद्य में हुआ है।

(९६) माधवमालती (२८ मा०)

चोट खाकर राह चलते होश के भी होश छूटे,
हाथ जो पाथेय थे, ठग-ठाकुरों ने रात लूटे।

—अर्चना, गीत ५९

माधवमालती का निर्माण सप्तकों (SISS) से होता है। इसका प्रयोग दोनों रूप में प्राप्त होता है।

(९७) विशुद्धगा (३० मा०)

एक दिन थम जायगा रोदन तुम्हारे प्रेम-अंचल में,
लिपट स्मृति बन जायेंगे कुछ कन-कनक सींचे नयन जल में।

—परिमल : निवेदन

विधाता के आदि में दो मात्राओं के योग से इस छंद का निर्माण होता है।[१८] निराला-काव्य में इसकी केवल चार पंक्तियाँ उक्त कविता में मिलती हैं।

(९८) हरिगीतामृत (३० मा०)

ठहरो अहा ! मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूंगा।

—परिमल : भिक्षुक

इसका निर्माण हरिगीतिका के अंत में एक गुरु रखने से होता है। निराला-काव्य में इसकी केवल उक्त पंक्ति मिलती है।

(९९) चतुष्पद (३० मा०)

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

—परिमल : भिक्षुक

जब किसी पथिक को इधर कभी आते जाते पाते हो।

—परिमल : रास्ते के फूल से

इसका निर्माण पद्धरि-पदपादाकुलक और सखी के चरणों से होता है। इसकी पंक्तियाँ स्वच्छंद छंद में ही प्राप्त होती हैं।

(१००) ताटंक (३० मा०)

चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।

—परिमल : भिक्षुक

ताटंक का निर्माण चौपाई और हाकलि के चरणों के योग से होता है। ताटंक का स्वतंत्र प्रयोग निराला ने कहीं नहीं किया। अन्य छंदों के साथ इसकी पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

(१०१) वीर छंद (३१ मा०)

कठिन शृंखला बजा-बजा कर गाता हूँ अतीत के गान,
मुझ भूले पर उस अतीत का क्या ऐसा ही होगा ध्यान ?

—परिमल : आदान-प्रदान

चौपाई और चौपई के चरणों के योग से इसका निर्णय होता है। इसका प्रयोग दोनों रूपों में मिलता है।

(१०२) समानसवैया (३२ मा०)

जहाँ हृदय में बालकेलि की कला-कौमुदी नाच रही थी,
किरण बालिका जहाँ विजन-उपवन-कुसुमों को जाँच रही थी।

—अनामिका : अनुताप

चौपाई के दो चरणों के योग से समान सवैये का निर्माण होता है। इसका स्वतंत्र प्रयोग केवल उक्त कविता में पाया जाता है।

(१०३) मत्तसवैया (३२ मा०)

आकर्षण के अभियानों के गतिक्रम को जब वे तोड़ चुके,
उनकी मानवता से दानव अपना जीवन-क्रम जोड़ चुके।

——बेला : गीत ७८

पद-पादाकुलक के दो चरणों के योग से मत्तसवैये का निर्माण होता है। इसका प्रयोग निराला ने बहुत कम किया है।

मिश्र छंद

(१०४) छप्पय (रोला + उल्लाला)

लहर रही शशिकिरण चूम निर्मल यमुना-जल,
चूम सरित की सलिल राशि खिल रहे कुमुद दल,
कुमुदों के स्मिति-मंद खुले वे अधर चूम कर,
वही वायु स्वच्छंद, सकल पट घूम-घूम कर।
है चूम रही इस रात को तुम्हारे मधु अधर।
जिन में है भाव भरे हुए सकल शोक-संतापहर।

——अनामिका :चुम्बन

निराला के संपूर्ण साहित्य में छप्पय का केवल उक्त पद्य उपलब्ध होता है।

वार्णिक मुक्तक——

(१०५) अर्चना (१६ अक्षर)[१९]

बीत चुका शीत, दिन वैभव का दीर्घतर,
डूब चुका पश्चिम में, तारक-प्रदीप कर।

——अनामिका : नर्गिस।

अर्चना रूपघनाक्षर अथवा जलहरण का उत्तरांश है। अर्चना छंद में केवल उक्त कविता निबद्ध है।

(१०६) मदनहर घनाक्षरी (३२ अक्षर)

सूर्य भी नहीं है ज्योति सुन्दर शशांक नहीं,
छाया-सा व्योम में वह विश्व नजर आता है।
धीरे-धीरे छाया दल लय में समाया जब
धारा निज अहंकार मंदगति बहाता है।

—गीतगुंज, पृ० १०२

इस छन्द का निर्माण मनहरण घनाक्षरी के अंत में एक गुरु के योग से होता है। इस छन्द में निबद्ध केवल एक पद्य मिलता है।

स्वच्छन्द छन्द

भावानुसार अनेक छोटे-बड़े शास्त्रीय छन्दों के चरणों के विनियोग से बने छन्द को स्वच्छन्द छन्द कहते हैं। इसके चरणों की कोई निश्चित संख्या नहीं होती। कवि चाहे जितने भी चरण जिस ढ़ंग से स्वच्छन्दता पूर्वक रख सकता है।

मेरे घर से निकल चले बढ़ते हुए..........................चांद्रायण
उस अजान की ओर। तुम्हारा छोर असीम अनंत..........अहीर + शृंगार
कहीं-कहीं जब देखा कोई द्वार..........................तमाल
दीन-हीन मुझ ऐसे का घर बार..........................,,
तो ठहर गए, तुम गये अतः। अड़ते हुए।..............पदपादाकुलक + सुगति
और नही सीधे पहुँचे तुम उस अनंत के घर में'..............सार
धोखा खाया तुमने भी क्षण भर में..........................हंसगति

× × ×

दहशत तुम्हें क्या थी प्रकृति की इस उखाड़-पछाड़ की?..........हरिगीतिका
दूध पीता छिन गया बच्चा अभी जिस शेरनी का..............माधवमालती
माँद से उसकी कठोर दहाड़ की?..........................पं। यूषवर्षी

—गीतगुंज, पथ पृ० ६८

उक्त अनुच्छेद के सभी चरण किसी-न-किसी शास्त्रीय छन्द के हैं। परिमल भाग २ की सभी कविताएँ इसी छन्द में लिखी गई हैं।

मुक्त छन्द

सारे शास्त्रीय बंधनों को अस्वीकार करते हुए केवल कवित्त के हलके लयाधार को लेकर चलने वाले छन्द को मुक्त छन्द कहते हैं। यथा—

नायक ने चूमे कपोल
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल
इस पर भी जागी नही
चूक क्षमा माँगी नहीं
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूंदे रही
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये
कौन कहे?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली।

—परिमल : जुही की कली

परिमल भाग ३ की सभी कविताएँ इसी छन्द में हैं।

उर्दू छंद

विहंग १६ मात्राएँ[२०]

गई निशा वह, हँसी दिशाएँ,
खुले सरोरुह, जगे अचेतन,
बही समीरण जुड़ा नयन-मन,
उड़ा तुम्हारा प्रकाश-केतन।

--गीतिका : गीत ५६

डॉ० शुक्ल ने इसे विहंग नाम दिया है और इसकी उर्दू बहर फऊल फेलुन फऊल फेलुन बतलाई है। इस प्रकार यह छन्द जगण, भगण, जगण, भगण के आधार पर चलता है।

इस कविता के अतिरिक्त निराला ने और कविताएँ भी उर्दू छन्दों में लिखी हैं, जिन में उनके कथनानुसार फारसी के छन्द शास्त्र का निर्वाह किया गया है।' पर उन सभी छन्दों की परीक्षा करने पर पता चलता है कि उनका उर्दू बहरों का प्रयोग बेठिकाने का है। कोई भी पद्य ऐसा नहीं; जिसकी सारी पंक्तियाँ एक बहर के आधार पर लिखी गई हों। एक मिसरे (पंक्ति) में यदि एक, तो दूसरे में दूसरी बहर प्रतीत होने लगती है। ऐसी दशा प्रत्येक गजल की बहर की टोह नहीं लेकर इतना ही निर्देश कर देना ऊलं होगा कि उन्होंने कहाँ-कहाँ उर्दू बहरों का प्रयोग किया है। ऐसे प्रयोग स्थल निम्नलिखित हैं--

गीतिका—गीत ५६,
बेला—गीत १०, १५, १७, २०—२५, २८, ३६, ४८, ५०, ७२, ७५, ७६, ७७, ८३,—८६
नए पत्ते—खुशखबरी, पंचक
अणिमा--गीत ३२
सांध्यकाकली २७, ३०, ५६, ६४

निराला के छंद: प्रयोग में एक विचित्र विरोधाभास दिखलाई पड़ता है। एक ओर यदि उसमें स्वच्छंदता और मुक्ति है, तो दूसरी ओर नियमबद्धता भी। यदि कहीं तुक की बेड़ियों से मुक्त कर मुक्त छंद को पूरी मुक्ति दे दी गई है, तो कहीं उसके चरणों में अत्यानुप्रास की दृढ़ श्रृंखला डालकर मुक्त संचरण पर उसके नियंत्रण का अंकुश भी रख दिया गया है। शास्त्रीय छंदों में कहीं तो नियमों का कठोर अनुशासन है, तो कहीं नियमों का निःसंकोच उल्लंघन। जहाँ छोटे-छोटे गीतों में भी छंदों का परिवर्तन वांछनीय हो गया है। वहाँ 'सरोजस्मृति', 'राम की शक्ति-पूजा' तथा 'तुलसीदास' जैसीं लंबी कविताएं आद्योपात एक ही छंद में लिखी गई हैं। आाचर्यजनक बात तो यह है कि कविता को सब प्रकार के बंधनों से मुक्ति देने दिलाने के आकांछी कवि को तुक का इतना जबर्दस्त मोह है कि वह प्रसाद और पंत की तरह अपनी एक भी कविता किसी शास्त्रीय छंद में भिन्नतुकांत रूप में

नहीं लिख सका। इस प्रकार हम देखते हैं कि निराला का छंद प्रयोग एक बंधी लीक पर नहीं चलकर निरंतर नूतन मार्ग की खोज करता चला है। जिस प्रकार हरिऔध आजीवन भाषा के नये-नये नमूने पेश करने में उलझते रहे उसी प्रकार निराला जीवन-पर्यन्त छंदों के नूतन प्रयोग से जूझते रहे।

छंद की भावानुकूलता में कवि का कौशल ही प्रमाण होता है। वही कौशल छंद-द्वारा शासित भाषा से भी मनमाना काम निकाल लेता है। छंद की इस भावानुकूलता पर सभी कवियों का ध्यान रहता है और निराला की तो यह विशेषता ही है। इसीलिये तो उन्होंने स्वच्छन्द छन्द और मुक्त छन्द की उद्‌भावना की, जिससे उनका भाव छन्द के बंधन में पड़कर कुंठित नहीं हो जाय। भावानुकूलता पर उनका इतना ध्यान था कि अन्य कवियों के विपरीत अपने अनेक गीतों के बंदों में भी उन्होंने छन्द बदल दिया है।

नवीन छन्दों का निर्माण प्राचीन काल से होता आया है। छायावाद के अंदर भी अनेक नूतन छन्द निर्मित हुए। प्रसाद और महादेवी की प्रवृत्ति नूतन छन्द गढ़ने की ओर बहुत कम है। अभिनव छन्दों का आविष्कार अधिकतर निराला और पंत ने किया है। निराला-काव्य में प्राप्त नूतन छन्द ये हैं--ज्योति, पदपदांक, चंग, कोकिला, लीलाधर, वसंत मालती, लघिमा, लीला वृत्त, साधिका, मंजुतिलकावली, दिगंबरी, विशुद्धगा और हरिगीतामृत। नये छन्दों की उद्‌भावना के अतिरिक्त पुष्पदंत और विद्यापति के द्वारा आविष्कृत क्रमशः शक्तिपूजा और रजनी छन्दों के आधुनिक युग में सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय भी निराला को ही प्राप्त है।

छायावाद की प्रवृत्ति मात्रिक छन्दों के प्रयोग की ओर ही अधिक रही और निराला में भी उसी की प्रधानता है। निराला-साहित्य में सर्वाधिक बड़े छन्द समान सवैया और मत्त-सवैया हैं और सबसे छोटा चार मात्रापादी युग छन्द। यों तो उनके साहित्य में अनेक प्रकार के छन्द मिलते हैं, पर उन्होंने लीला, हाकलि, मनोरम, शृंगार, पद्धरि, पदपादाकुलक, चौपाई, पीयूषवर्षी, रोला, शक्तिपूजा, सरसी, माधवमालती तथा वीरछन्द का अपेक्षाकृत विशेष प्रयोग किया है।

मात्रिक छन्द त्रिकल, चौकल, पंचकल, षट्कल, सप्तकल और अष्टकल के आधार पर चलते हैं। निराला-साहित्य में इन सभी आधारों पर चलने वाले छन्द मिल जाते हैं। द्विवेदी युग में त्रिकल-षट्कल और पंचकल पर आधृत छन्द बहुत कुछ उपेक्षित रहे। अनेक छन्दों के सफल प्रयोक्ता मैथिलीशरण तक ने हीर (त्रिकल-षट्कल) और चंद्र (पंचकल) छन्द नहीं लिखे। हरिऔध ने चंद्र को विपुल सम्मान अवश्य दिया, पर अन्य पंचकलाधृत छन्द उनके द्वारा भी प्रायः उपेक्षित ही रहे। निराला ने चंद्र तो नहीं लिखा, पर पंचकाधृत कई छन्दों (दीप, विमोहा, अरुण, मंजुतिलका, मंजुतिलकावली) का प्रयोग किया। त्रिकलाधृत प्रायः समस्त छन्दों (निधि, शिव, लीला, योग, कुंडल, हीर, सारस) का प्रयोग निराला-काव्य में मिलता है। त्रिकलाधृत कुछ नूतन छन्दों (चंग, कोकिला, लीलाधर, लघिमा, लीलावृत्त) का निर्माण भी उन्होंने किया।

प्रत्येक कवि का किसी खास छन्द की ओर विशेष रुझान रहता है। संभवतः संगीत के अधिक अनुकूल होने के कारण निराला का रुझान लीला छन्द की ओर विशेष रहा। लीला छन्द में उन्होंने विपुल परिमाण में रचना की तथा उसके आधार पर कई छन्दों का निर्माण किया। अतः लीला उनकी सर्वाधिक प्रिय छन्द मानी जा सकती है। चौपाई भी संगीत के अनुकूल है। फलतः उनकी चौपाई में लिखित रचनाएँ लीला में निबद्ध रचनाओं से भी अधिक है। अतः चौपाई भी उनके प्रिय छन्दों में है।

सफलता की दृष्टि से देखें, तो निराला को सबसे अधिक सफलता लीला छन्द में प्राप्त हुई है। लीला के प्रयोग में शायद ही कहीं कुछ व्यतिक्रम मिल जाय। चौपाई में कहीं-कहीं शब्द-संस्थापन-क्रम में विपर्यय मिल जाता है। पीयूषवर्षी छन्द प्रायः शुद्ध रूप में लिखा गया है। मनोरम, रूपमाला तथा माधवमालती यों तो ठीक है, पर कहीं-कहीं लघु की जगह गुरु रख कर वांछित लय में कुछ व्याघात उपस्थित कर दिया गया है। पद्धरि-पदपादाकुलक का प्रयोग तो उन्होंने विशद रूप से किया है, पर सबसे अधिक विफलता भी उन्हें इन्हीं दोनों में हाथ लगी है। प्रसाद की तरह रोला का अखण्डित प्रवाह भी निराला में अनेक स्थलों पर प्राप्त नहीं होता। अतः रोला की रचना में वे उतने सफल नहीं समझे जा सकते। अंतोगत्वा यही कहा जा सकता है कि निराला भी प्रसाद की तरह छन्दों के—शास्त्रीय छन्दों के प्रयोग में उतने सजग नहीं दिखलाई पड़ते, जितने पंत और महादेवी।

संदर्भ-संकेत

(१) मिट्टी की ओर, पृ० ११३। (२) द्रष्टव्य—(क) छन्दः प्रभाकर : जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', पृ० ४३, (ख) छन्दार्णय : भिखारीदास का शुभगति छन्द ५।४५, पृ० १८५। (३) द्रष्टव्य : छन्दार्णव, पृ० १८६। (४) द्रष्टव्य—

दह मत्त पउ किज्ज। पंचयलु स ठविज्ज।
जो पढ़त सुहकंदु। एयावली छंदु।

—रत्न शेखस्कृत छंदः कोश, पद्य ४४।

(५) आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना : डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० २५७। (६) छन्द : प्रभाकर : जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', पृ० । (७) आ. हि. का. में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० २६८। (८) वही, पृ० २६९। (९) छंदार्णव : ६।६, पृ० २१५। (१०) छंदार्णव : ५।१३। (११) मिट्टी की ओर, पृ० ११४। (१२) छंतोऽनुशासन : हेमचंद्र ४।४७। (१३) आ. हि. का. में छन्दयोजना : पृ० २७८। (१४) वही, पृ० २८१। (१५) वही, २८५। (१६) वही, पृ० २८५। (१७) वही। (१८) वही, पृ० २९४। (१९) मिट्टी की ओर : दिनकर। (२०) आ. हि. का. में छन्दयोजना, पृ० १६६।

प्रसाद की सर्जना : अन्तःमुखी भावुक औपन्यासिक पात्र

●
कु० अनिता गुप्ता

व्यक्तित्व व्यक्ति और परिवेश की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है। व्यक्ति के बाह्य आकार-प्रकार, उसके गुण-प्रवृत्तियाँ एवं सामर्थ्य उसके व्यक्तित्व को भिन्नता प्रदान करते हैं। अतएव कुछ सामान्य विशेषताओं के होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व कुछ विशिष्टता लिये रहता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसी भिन्नता के आधार पर व्यक्तित्व के अनेक वर्गीकरण किये हैं। सुविख्यात मनोवैज्ञानिक सी० जी० युंग द्वारा सामाजिकता के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण महत्वपूर्ण है। उन्होंने व्यक्तित्व को अन्तःमुखी एवं बहिःमुखी इन दो वर्गों में रखा है। व्यक्तित्व के इन दो प्रमुख वर्गों के आधार पर चित्रित पात्रों के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जा सकता है।

उपन्यास जीवन की समग्रता को प्रस्तुत करने की एक समर्थ विधा है। इसमें व्यक्तित्व के पूर्ण विकास एवं समग्र विशेषताओं के अंकन की पूर्ण सम्भावना रहती है। छायावादी-युग के प्रमुख साहित्यकार जयशंकर 'प्रसाद' जी के उपन्यास इस तथ्य के अपवाद नहीं हैं। उनके उपन्यासों में अन्तःमुखी एवं बहिःमुखी दोनों ही प्रकार के व्यक्तित्व को देखा जा सकता है। किन्तु साहित्य रचनाकार के व्यक्तित्व का प्रतिरूप होता है। इस कथन के अनुरूप ही भावुक, संवेदक, भारतीय संस्कृति के गम्भीर अध्येता एवं विचारक प्रसाद जी के अधिकांश औपन्यासिक पात्र अन्तःमुखी व्यक्तित्व से युक्त हैं। व्यावहारिक दृष्टि से अन्तःमुखी व्यक्तित्व के विभिन्न उपवर्ग दुर्लभ हैं लेकिन फिर भी विभिन्न उपवर्गों के आधार पर अन्तःमुखी पात्रों के व्यक्तित्व को सूक्ष्मतया समझा जा सकता है। इस दृष्टि से युंग द्वारा विभाजित अन्तःमुखी व्यक्तित्व के चारों उपवर्ग—भावुक, संवेदक, अन्तःदर्शक एवं विचारक प्रसाद जी के औपन्यासिक पात्रों में सुलभ हैं। इनमें भी अन्तःमुखी भावुक व्यक्तित्व के पात्रों की प्रधानता है।

अन्तःमुखी भावुक व्यक्तित्व की सर्वप्रमुख विशेषता है कि वह प्रेम तथा घृणा की भावना से अपेक्षाकृत अधिक पीड़ित रहता है, क्योंकि भावुकता उसके व्यक्तित्व की प्रमुख विशिष्टता होती है। इस दृष्टि से प्रसाद जी के प्रायः सभी अन्तःमुखी भावुक औपन्यासिक

पात्र अन्तस् की भावनाओं से बुरी तरह आक्रान्त हैं। किशोरी की स्वसन्तान सुख की लालसा ही उसके हृदयगत भावों के उथल-पुथल का मूल कारण है। श्रीचन्द की उपेक्षा एवं व्यवसायिकता के प्रति रोष[1], देवनिरंजन के सम्मुख प्रेमपूर्ण समर्पण, बाद में विषम परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप देवनिरंजन के प्रति असीम घृणा एवं तिरस्कार भरे कथन, दत्तक पुत्र के प्रति खीज एवं रोष इसी लालसा का परिणाम हैं। यमुना का करुणापूर्ण जीवन भी प्रेम एवं घृणा की भावनाओं से पूर्णतया संचालित है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार ही उसके भावों एवं नामों में परिवर्तन होता रहता है। 'गुलेनार' के रूप में उसका मंगल के प्रति आदरभाव, 'तारा' के रूप में उसके इस आदरभाव का प्रणय में परिवर्तन, यमुना के रूप में इस प्रेम-भाव का घृणा में परिवर्तन हो जाना उसके हृदयगत भाव-संसार को प्रस्तुत करता है। एक अन्य पात्रा 'लतिका' का मिस्टर बाथम के प्रति असीम प्रेम तथा बाद में उसके प्रति घृणा उसके भावुक व्यक्तित्व को स्पष्ट करता है। शबनम भी आन्तरिक भावों के परिवर्तन से प्रभावित है। प्रारम्भ में उसका मिरजा के प्रति प्रेम[2], मिरजा की उदासीनता से आहत होकर महल छोड़ कर दरिद्रतापूर्ण जीवन-यापन, परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप मिरजा की विपन्नावस्था देखकर करुणार्द्र हो उठना उसके अन्तःमुखी व्यक्तित्व के अनुकूल है। इसी प्रकार 'विजय' का यमुना के प्रति प्रेमभाव मित्र मंगलदेव से ईर्ष्या रखने एवं उसके कार्य-कलापों से घृणा करने के लिए बाध्य करता है। नवाब की हत्या भी वह भावावेश में कर देता है। उसके जीवन के दुःखद अन्त का कारण उसकी यही भावुकता है। एक अन्य पात्र 'मधुवन' का हृदय एक ओर सुखदेव, श्यामलाल एवं मिस अनवरी के प्रति घृणा से परिपूर्ण है तो दूसरी ओर 'तितली[2], 'रामनाथ', 'इन्द्रदेव', 'शैला' के प्रति असीम प्रेमभाव एवं रामजस के प्रति सहानुभूति उसके अन्तस् में व्याप्त है। लेकिन परिस्थितियों में परिवर्तन होते ही स्वजनों के प्रति उसके भावों में परिवर्तन हो जाता है।[3] 'मधुवन' की विधवा बहन 'राजकुमारी' भी परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप भावनाओं के आवेग से पीड़ित है। प्रारंभ में 'तितली' एवं 'मधुवन' के प्रति क्रोध की भावना है[4] तो बाद में उनके प्रति स्नेहयुक्त व्यवहार है। इसके विपरीत 'सुखदेव' के प्रति प्रारम्भ में प्रणय भाव एवं बाद में उपेक्षा स्पष्ट है। 'इन्द्रदेव' भी भावनाओं के प्रबल प्रवाह से उद्वेलित है। माँ और बहन के बदले हुए व्हवहार से वह आश्चर्यचकित है। 'मिस अनवरी' के प्रति घृणा भाव है तो 'शैला' के प्रति प्रेम भाव होने के कारण उसके उदासीन व्यवहार से असंतुष्ट होकर प्रतिक्रिया-स्वरूप खिन्नता से आक्रान्त हो जाना उसके मन को अशान्त कर देता है। इसके अतिरिक्त अपने बदलते हुए व्यवहार के प्रति वह स्वयं आश्चर्य-चकित है। 'इरावती' के अन्तस् में स्थित वेदना एवं प्रेम की गहनानुभूति अनेक स्थलों पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रकट है।[5]

अन्तःमुखी भावुक व्यक्तित्व की एक अन्य विशेषता भावों के समुचित प्रकाशन की असमर्थता है। वे संकोची स्वभाव के होते हैं, इसलिए उनकी यह इच्छा होती है कि अन्य व्यक्ति स्वयं ही उनके भावों को समझ लें। प्रसाद के अन्तःमुखी पात्र इस विशेषता से वंचित नहीं रह पाये हैं। 'किशोरी' 'श्रीचन्द' से पुनः मिलने पर इसी मानसिक स्थिति से गुजरती है। 'रामनाथ' के सम्मुख 'मधुवन' का संकोच इसी बात का प्रमाण है। 'मुकुन्दलाल' के

विचारों से सहमत न होते हुए 'नन्दरानी' का वेदनापूर्ण मौन इस तथ्य का साक्षी है। 'इन्द्रदेव' के डायरी-लेखन का मूल कारण भी यही दुर्बलता है। 'मणिमाला' 'धनदत्त' के सम्मुख स्वयं को निर्दोष प्रमाणित करने में असमर्थ है।

इसके अतिरिक्त परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों से असमायोजन अन्त:मुखी भावुक व्यक्तित्व की मानसिक विवशता है। प्रसाद जी के प्रायः समस्त अन्त:मुखी भावुक पात्र इस विवशता से ग्रसित हैं। किशोरी अपने पुत्र को खोकर किसी भी प्रकार के समायोजन में समर्थ नहीं है। दत्तक पुत्र भी उसके लिए सहायक सिद्ध नहीं हो पाता है। 'यमुना' 'गुलेनार' के रूप में दुखी है तो 'तारा' के रूप में भी वह संतुष्ट नहीं रह पाती है। असमायोजन के कारण ही वह 'किशोरी' के घर से चली जाती है। विलायत से लौटा हुआ 'इन्द्रदेव' गाँव एवं परिवार की बदली हुई परिस्थितियों से समायोजन नहीं कर पाता है। ग्राम-सुधार के संदर्भ में कुछ न कर पाने की अनुभूति उसे दुखी करती है। साथ ही अपने परिवार के रूप में उसे सम्मिलित कुटुम्ब की परम्परा का अन्त स्पष्ट दिखलाई देता है। मधुवन गाँव के अत्याचारी व्यक्तियों से तो दुखी है ही, शहर में भी वह अनेक व्यक्तियों से झगड़ा मोल ले लेता है। परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित न कर पाना ही इसका प्रधान कारण है। उसकी यही दुर्बलता ही नाना परिस्थितियों में उसके भटकाव का कारण बन जाती है। 'विजय' भी 'यमुना' द्वारा प्रणय-निवेदन अस्वीकार कर दिये जाने पर नई परिस्थितियों से समायोजन नहीं कर पाता है और नशे का सहारा लेता है।

इन बदलती हुई परिस्थितियों से समायोजन करने में असमर्थ अन्त:मुखी भावुक व्यक्तित्व दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करते हैं—कभी तो वे विद्रोह के माध्यम से अपनी असंतुष्टि व्यक्त करते हैं और कभी उन परिस्थितियों से पलायन कर जाते हैं। व्यवहार-कुशलता के अभाव में उनका यह विद्रोह प्रायः असफल ही रहता है। इसलिए दोनों ही परिस्थितियों में उन्हें असीम निराशा, पश्चाताप एवं आत्मग्लानि का अनुभव होता है। प्रसाद जी के अन्त:मुखी भावुक औपन्यासिक पात्रों के संदर्भ में इसे स्पष्ट देखा जा सकता है। 'किशोरी' की 'श्रीचन्द' के प्रति उदासीनता एवं 'देवनिरंजन' के साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित करने के मूल में एक अन्य कारण 'श्रीचन्द' की व्यावसायिक भावना के प्रति विद्रोह ही है। बाद में उसे अपने कृत्य पर आत्मग्लानि होती है। वैरागी की कथा उसे वास्तविकता की अनुभूति कराती है और पश्चाताप की भावना उसे सत्कार्य के लिए प्रेरित करती है। 'यमुना' का आत्महत्या का प्रयास विषम परिस्थितियों से पलायन एवं घोर निराशा का ही परिणाम है। उसका किशोरी के घर से चले जाना स्पष्ट पलायन है। नवजात शिशु को त्याग देने में भी परोक्ष रूप से 'मंगल' के प्रति विद्रोह-भाव ही है। अपने इस कुकृत्य पर उसे बाद में पश्चाताप होता है। 'राजकुमारी' स्वयं को मधुबन के दुखों का कारण मानकर आत्म-ग्लानि से भर उठती है। 'इन्द्रदेव' का गाँव छोड़ कर शहर चले जाना अपने जीवन-लक्ष्य—ग्राम-सुधार से प्रत्यक्ष पलायन है। इस संबंध में अपनी निराशा को वह व्यक्त करता है। समस्त सम्पत्ति का त्याग एवं 'शैला' के प्रति उदासीनता अचेतन रूप से आत्मजनों के प्रति विद्रोह भाव ही है। उन्हें पीड़ित करने का प्रयास है। इन्द्रदेव की डायरी उसके जीवन में

व्याप्त घोर निराशा एवं आत्मीय जनों के प्रति घोर असंतोष को प्रकट करती है। 'मधुवन' विधवा बहन द्वारा पालित-पोषित, उच्चकुल का अनाथ प्राणी है। परिणामतः कभी तो वह विषम परिस्थितियों से पलायन कर जाता है और कभी अपना दुर्बल विद्रोह ही प्रकट करता है। महन्त का गला घोंटने का प्रयास अत्याचारी समाज के प्रति विद्रोह है तो वहाँ से भाग जाना विषम परिस्थितियों से पलायन है। इसीलिए एकान्तवास-जनित घोर निराशा के वशीभूत होकर वह अपने समस्त परिचित जनों को बुरा समझता है। उसका यह मनोभाव स्वप्नों एवं दिवास्वप्नों के माध्यम से प्रकट है। बाद में उसे इसका पश्चाताप भी होता है। 'मैना' और 'श्यामलाल' का शारीरिक हानि पहुँचाने के मूल में अपनी कायरता के प्रति ग्लानि एवं अन्याय के प्रति विद्रोह है। 'विजय' का घंटी के प्रति आकर्षण यमुना के प्रति विद्रोह भरा आचरण करने का प्रयास है, इसीलिए गोस्वामी कृष्णशरण के सम्मुख घंटी के साथ विवाह करने की उसकी इच्छा का खोखलापन प्रकट हो जाता है। किशोरी के प्रति विद्रोह एवं उसे दुःख पहुँचाने की चेष्टा ही उसे शराब पीने तथा घर छोड़ने के लिए विवश करती है। सामाजिक मान्यताओं के प्रति अस्वीकृति उसका स्पष्ट विद्रोह ही है। निर्जीव पदार्थों पर क्रोध प्रकट करना विषम परिस्थितियों से न जूझ पाने की उस दुर्बलता एवं विवशता को प्रकट करता है। इरावती का भिक्षुणी बनना विषय-सुख की भावना से उसका पलायन ही है। उसकी यह भावना शिष्याओं के सम्मुख छिपी नहीं रह पाती।

वस्तुतः प्रसाद जी के समस्त अन्तःमुखी भावुक औपन्यासिक पात्र अपनी प्रकृति के अनुकूल ही आत्मकेन्द्रित हैं। उनकी यह प्रवृत्ति ही उन्हें विकट परिस्थितियों का डट कर सामना करने एवं जीवन के यथार्थ को सहने एवं स्वीकार करने से दूर ले जाती है। अपने आस-पास की समस्त परिस्थितियों को वे अपने आदर्शों एवं कल्पना के अनुरूप पाना चाहते हैं और अधिकांशतः ऐसा न होने पर उन्हें निराशा ही हाथ लगती है। व्यवहार-कुशलता के अभाव में हृदयगत भावों को समुचित रूप से प्रकट न कर सकने के कारण वे जीवन-पर्यन्त मानसिक अशान्ति से जूझते रहते हैं। समग्रतः इन समस्त औपन्यासिक पात्रों के सफल, सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण में भावुक प्रसाद जी की संवेदनशीलता प्रमुख है। उनकी सहृदयता उन्हें मानव मन में छिपे गूढ़ भावों को दिखला सकी है। निःसन्देह इन पात्रों का अंकन प्रसाद जी के मानव-मन-सम्बन्धी गम्भीर अध्ययन एवं अपरिमित ज्ञान से युक्त व्यक्तित्व का सफल प्रस्तुतीकरण ही है।

संदर्भ-संकेत

(१) रुपये-पैसे तो बहुत हैं, जब उन्हें भोगने वाला ही कोई नहीं, फिर उसके लिए उद्योग न करना भी मूर्खता है......मैंने बुरा क्या किया?'' कंकाल पृष्ठ १४। (२) कंकाल–पृष्ठ १६०। (३) ''मुझे पिशाच के भयानक जाल में फँसा कर सब निर्विघ्न आनन्द ले रहे हैं। कौन ! राजो...तितली...मैना...सुखदेव...और शैला। सब चुपचाप ?'' तितली–पृष्ठ २०६। (४) तितली–पृष्ठ १५६-५७। (५)''अग्नि ! मैं जीवन-रागिनी में वर्जित स्वर हूँ। मुझे छोड़ कर तुम सुखी न हो सकोगे।'' इरावती–पृष्ठ १३।

हिन्दी काव्य-नाटक के विशेष सन्दर्भ में : नारी-मनोजगत् के नियामक भावयुग्म —प्रेम एवं घृणा

कु० तृप्ति

मनोविज्ञान जैविकीय व्यवहार-प्रतिक्रिया, तज्जन्य परिणाम एवं उनके आधारभूत कारणों की व्याख्या का विज्ञान है। वस्तुतः मनस् की रहस्यात्मक शक्ति, जो मानव की प्रत्येक गतिविधि की मुख्य संचालिका है, उसके अध्ययन का केन्द्रविन्दु है। मनोविश्लेषण को इस प्रक्रिया में केवल कायिक व्यवहार की ही महत्ता नहीं, महत्ता इतर विज्ञान-शास्त्र-साहित्यादि की भी है, जिनमें व्यक्ति की मानसिक क्षमता का प्रतिफलन होता है।

साहित्य की भूमिका इस दृष्टि से सविशेष है। दृश्यमान, श्रव्यमान अथवा अनुभूयमान घटनाओं के प्रति व्यक्ति की लिपिवद्ध मानसिक प्रतिक्रियासाहित्य है। फलतः सा हित्य-सर्जक एवं तत्प्रणीत पात्रों की मानसिक संरचना की अनिवार्य उपलब्धि, साहित्य का चरम प्राप्य है।

मानव-व्यवहार को प्रेरित करने वाले—आनुवंशिकता, परिस्थिति एवं वातावरण आदि अन्यान्य कारणों के साथ-साथ शार रिक संरचना को भी प्रेरक शक्ति स्वीकार किया गया है। 'हमारे मानसों का निर्माण...सदैव हमारे शरीर की प्रकृति से होता रहता है'—ड्राइडेन (सत्रहवीं शती) के इस कथन की तथ्याश्रित पुष्टि परवर्ती मनस्तत्त्व वेत्ताओं—शेल्डन एवं क्रेशमर ने की और यह निर्धारित किया कि व्यक्ति के मनोभावों के निर्धारण में उसकी शारीरिक संरचना का भी पर्याप्त प्रभाव रहता है। सम्भवतः नारी एवं पुरुष के व्यवहार में भिन्नता का य ी कारण है। विविध परीक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं कि नारी पु ष की अपेक्षा स्वभावतः अधिक संवेदनशील एवं भावुक होती है। नारी एवं पुरुष के स्वभाव को दो भिन्न वर्गों—भाव-प्रधान एवं चिन्तन-प्रधान में रखा जा सकता है। इसी आधार पर नारी में अव्यावहारिक एवं पुरुष में व्यावहारिक बुद्धि की कल्पना की जाती है।

नारी तथा पुरुष के व्यवहार के अध्ययन से सामान्यतया उपर्युक्त निष्कर्ष ही प्राप्त होते हैं, यों अपवादस्वरूप कुछ भिन्न परिणाम भी हो सकते हैं। भावुक एवं सं दनशील होने के कारण नारी-मनोजगत् पर प्रेम एवं घृणा—इन दो मनोभावों का सर्वाधिक प्रभाव लक्ष्य किया जाता है। 'वैसे तो इन्द्रियानुभूतियों की संख्या लगभग पचास हजार है किन्तु मूलवर्ती मनोवेग प्रियता एवं अप्रियता केवल दो ही हैं, ऐसा मनोविज्ञानवेत्ताओं का विचार है। इस आधार पर 'उभयभाविता' (एम्बीवेलेन्स) को भी समझा जा सकता है। उभयभाविता अथवा 'द्विभाव सामान्य अनुभूति है। व्यक्ति में एक स्तर पर घृणा-उपेक्षा का भाव मिलता है।'

इस सन्दर्भ में सर्वाधिक दुष्कर कार्य है प्रेम की कोई सर्वसम्मत परिभाषा दे पाना अथवा किन्हीं सुनियत शब्दों में उसकी व्याख्या कर पाना। प्रेम एक सूक्ष्म मनोभाव है, यह शब्द प्रायः व्यापक अर्थों में व्यवहृत होता है जिसमें कतिपय अन्य भाव भी अन्तर्निहित रहते हैं। इसीलिए किसी एक निश्चित भाव का द्योतन 'प्रेम' शब्द से नहीं होता। मनोवैज्ञानिकों के नुसार प्रेम पाना और प्रेम करना मानव मात्र की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपरीत-लिंगी के प्रति इतना गहरा निकट सम्बन्ध स्थापित हो जाना कि एक अपने को दूसरे के स्वप्नों और उपलब्धियों का सहभागी अनुभव करने लगे—वस्तुतः यही प्रेम है। भारतवर्ष में 'प्रेम' की अपेक्षा व्यापक अर्थों के साथ 'काम' शब्द व्यवहृत हुआ और उसे 'प्रत्येक प्राणी के भीतर रागात्मक प्रवृत्ति की संज्ञा' के रूप में ग्रहण किया गया है।

विभिन्न विद्वानों के अध्ययन का निष्कर्ष मूलतः यही है कि प्रेम एक नितान्त सौख्य-दायी मनोवेग है और उसे दो प्राणियों के मध्य पूर्ण तादात्म्यावस्था स्वीकार किया जाना चाहिए। एक अन्य महत्तम तथ्य यह भी है कि सुरक्षा की भावना, जो मानव-मात्र का परम काम्य है, प्रेम के साथ अभिन्न रूप से संलग्न है।

'प्रेम' के अनन्तर 'घृणा' के सम्बन्ध में विचार करना भी आवश्यक है। ऐसे उदाहरण दुर्लभ नहीं—जब अपने प्रियपात्र से ही व्यक्ति घृणा करने लगे और प्रतिशोध की भावना से हिंस्र हो उठे। मानव मन की जटिलता ऐसे ही स्तरों पर प्रकट होती है। इससे स्पष्ट है कि प्रायः घृणा प्रेम की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न होती है। फ्रॉयड जैसा प्रख्यात मनोवेत्ता घृणा को कुंठित प्रेम की चरम परिणति मानता है। अन्य मनोवैज्ञानिक भी फ्रॉयड के विचार से सहमत हैं। घृणा एक प्रकार से प्रेम का नितान्त विपरीत मनोभाव है। किन्तु कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों में घृणा-प्रदर्शन परोक्ष रूप से प्रेम की ही अभिव्यक्ति करता है। हिन्दी काव्य-नाटक के कतिपय नारी पात्रों को इसके उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है।

हिन्दी में काव्य-नाटक नाम्नी विधा का यथार्थ प्रतिनिधित्व करने वाली रचनाएँ गिनी-चुनी हैं। इनके रचनाकारों ने पौराणिक प्रसंगों की, अधुनातन संदर्भों में, व्याख्या का प्रयत्न किया है। कुछ तो परिस्थितिजन्य कारणों से और कुछ पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्ति के प्रभावस्वरूप, इन कृतियों के पात्रों को मनोवैज्ञानिक आधारभूमि पर उकेरा गया है। जिन

काव्य-नाटकों में नारी-पात्रों के चरित्र को विकसित होने का अवकाश मिला है, उनके अध्ययन से यह निष्कर्ष उद्भासित होता है कि प्रेम एवं घृणा ही एक प्रकार से नारी-व्यवहार के संचालक एवं नियामक मनोभाव हैं। फलतः वे प्रबल रूप से अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त दिखाई देती हैं। 'अग्निलीक'[१] काव्य-नाटक की 'सीता' ऐसे पात्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रेम के प्रति नारी का अत्यधिक भावुकतापूर्ण रुझान देखा जाता है। स्वभावतया कोमल एवं संवेदनशील होने के कारण उनमें प्रेम पाने की सहज एवं तीव्र आकांक्षा होती है। वस्तुतः 'सभी महिलाएँ सदा इस चेतना से अभिभूत रहना चाहती हैं कि व्यक्ति' समाज या राष्ट्र को उनकी बेहद जरूरत है। पुरुषों द्वारा अपने को अधिक जरूरत की वस्तु मनवाने की इनकी एक आंतरिक इच्छा होती है।' प्रेम का अभाव ही नारी के जीवन में तनाव एवं कुण्ठा को जन्म देता है—नारी ने हमेशा सम्मान की अपेक्षा प्रेम को तरजीह दी है, चाहे वह गांधारी के रूप में जन्मी हो या कुंती अथवा सीता के रूप में।

प्रेम का प्रस्फुटन भी दो रूपों में देखा जाता है—काम-मुक्त एवं काम-युक्त। अर्थ-संकोच के कारण 'काम' शब्द प्रायः ऐन्द्रिक प्रेम के लिए रूढ़ हो गया है। फ्रॉयड ने प्रेम एवं काम को अभिन्न रूप से संयुक्त किया है, किन्तु काम का आधिक्य घृणा को भी जन्म देता है। नारी के संदर्भ में तो यह और भी महत्त्वपूर्ण है। पुरुषों की कामुक चेष्टाएँ उसे इस सीमा तक क्रुद्ध कर देती हैं कि वह उनसे प्रतिशोध का भयंकरतम मार्ग अपनाती है। वस्तुतः प्रेम में हृदय के परितोष की महत्ता सर्वोपरि है, 'काम' भाव का स्थान बाद में आता है।

प्रेम में नारी स्वत्व-विसर्जन हेतु उद्यत रहती है, किन्तु वैसी ही प्रबल आकांक्षा वह प्रिय से भी करती है। यथार्थतः प्रेम में देने और पाने का समान महत्त्व है। नारी इस बात को कितनी गहराई से महसूस करती है, यह 'सीता' के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। प्रेम में परितृप्ति का अभाव ही अन्ततः उसे राम के प्रत्येक कार्य की कटुतम आलोचना के लिए बाध्य करता है।[२] उन क्षणों में सीता में 'एम्बीवेलेन्स' अथवा 'द्विभाव' का आधिक्य ध्यातव्य है, जो अन्ततः उसके विघटन का कारण ही नहीं बनता, अपितु उसे आत्मघात के लिए भी प्रेरित करता है।[३]

प्रेम का अन्ततः घृणा में परिवर्तित होना व्यक्तित्व के विघटन का मूल हेतु है। ऐसी परिस्थिति में आत्महत्या और प्रतिशोध—इन दो रूपों में नारी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। आत्महत्या भी एक प्रकार का प्रतिशोध ही है। घृणा एवं क्रोध की मिश्रित भावराशि उसे कुछ भी करने को बाध्य कर देती है। नारी-मनोविज्ञान के सम्बन्ध में इस तथ्य का समर्थन किया जा सकता है कि 'जब महिला क्रोध में हो, तो इसका मतलब है वह कुछ अप्रत्याशित और असाधारण करने जा रही है। नारी-मनोविज्ञान का यह एक ऐसा बिन्दु है, जहाँ एक समझदार और सचेतन पुरुष उसकी शक्ति का उपयोग यदि किसी अच्छे कार्य के लिए करे तो वह अत्यधिक लाभकारी हो सकता है।'[४] सीता के क्रोध की चरम परिणति उस बिन्दु पर होती है जहाँ वह किसी अन्य व्यक्ति की बात सुनना ही नहीं चाहतीं। यह प्रेम की शक्ति का सर्वोत्तम प्रदर्शन है।

इस सम्बन्ध में वस्तुतः इस कथन का समर्थन किया जा सकता है कि नारी शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से शिशु के शारीरिक-मानसिक गठन के निकट होती है।[५] सम्भवतः इसीलिए उसमें अपने अस्तित्व एवं अपनी बात को प्रमुखता देने का हठ रहता है। अवहेलना किये जाने पर वह शिशुवत् व्यवहार ही करती है। 'एक कण्ठ विषपायी' की सती द्वारा दक्ष के यज्ञ का विध्वंस— इसका बहुत सुन्दर उदाहरण है। सती में पत्नी और पुत्री--नारी के इन दो भिन्न रूपों से सम्बद्ध प्रेम सक्रिय है। पिता द्वारा पति की अवमानना परोक्ष रूप से उसे अपनी अवमानना प्रतीत होती है, सम्भवतः वह इसीलिए आवेश में आ जाती है। पिता से स्नेह के कारण ही वह हठपूर्वक पतिगृह से पितृगृह आती है और फिर क्रुध होकर यज्ञ-विध्वंस करती है और आत्माहुति देती है।[६]

पूर्वविवेचित प्रसंगों के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि नारी के व्यवहार एवं क्रिया-व्यापार के मुख्य सूत्र प्रेम एवं घृणा से बँधे हुए हैं और यहीं से संचालित होते हैं। प्रेम की आकांक्षा नारी प्रत्येक रूप में करती है—चाहे वह प्रेयसी हो, पत्नी हो अथवा माँ या पुत्री हो। नारी एक सीमा तक अपने अहम् का दमन कर प्रिय व्यक्ति के लिए चरम समर्पण की भावना से आप्लावित रहती है, किन्तु बदले में वैसी ही कामना भी करती है। निरन्तर प्रयास करने पर भी काम्य के उपलब्ध न होने पर अन्ततः उसका प्रेम घृणा में परिवर्तित हो जाता है, जिसकी अंतिम अभिव्यक्ति प्रतिशोध के रूप में व्यक्त होती है। किन्तु पुरुष की अपेक्षा उसके क्रोध एवं प्रतिशोध भाव का शमन अधिक सहज है। नारी के मनस्ताप का मूल कारण है प्रेम और वही उसका निदान भी।

संदर्भ संकेत

(१) रॉबर्ट, एम० वुडवर्थ मनोविज्ञान, अनु० उमापति राय चन्देल, पृ० ११६। (२) अग्निलीक–भारतभूषण अग्रवाल, पृ० ३०-३३, ४०-५७। (३) वही, पृ० ५६ तथा ५८। (४) डॉ० वीरेन्द्र, आइए....मनोविज्ञान समझें, धर्मयुग १९ अगस्त १९७७, पृ० ५०। (५) ओसवाल्ड श्वार्ज, द साइकोलाजी ऑन सेक्स, पृ० १२९। (६) एक कण्ठ विषपायी, दुष्यन्त कुमार, पृ० २५।

स्वतन्त्रता-परवर्ती हिन्दी के राजनीतिक उपन्यास : व्यवस्था विरोध और विकल्प की तलाश



प्रेम कुमार

'कोउ नृप होय हमें का हानी' वाली धारणा बीते युग की बात हो चली है। राजनीति प्रेरित लेखन को पत्रकारिता का दर्जा देने[1] वाली बात भी अब गले नहीं उतरती। राजनीति आधुनिक जन सामान्य के जीवन को सीधे प्रभावित करने वाला एक अपरिहार्य अंग बन चुकी है। देश का प्रत्येक व्यक्ति राजनीति से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित अनुभव करता है। 'आज की जिन्दगी का हर स्तर राजनीति का इतना गहरा दबाव झेल रहा है कि राजनीतिक समझ के बिना सामाजिक जीवन की समझ ही सम्भव नहीं रह गई है।'[2] आज जन साधारण का राजनीति से कटकर रहना न तो सम्भव ही है और न ही उचित। साहित्य और राजनीति का पारस्परिक सम्बन्ध आज एक प्रासंगिक प्रश्न बन गया है। साहित्यकार के लेखन में युग और परिवेश की गूंज होती है। अतः जन सामान्य की चेतना को वाणी देने वाला उपन्यासकार स्वयं इस यथार्थ को नजर अन्दाज नहीं कर पा रहा है 'रचनात्मक स्तर पर राजनीति के साथ लेखक के रिश्ते का सवाल एक विकसित होते प्रजातंत्र में एक ऐसा सवाल है जिससे कतराना असम्भव नहीं तो मुश्किल जरुर लगता है।[3] शायद यही कारण है कि स्वतन्त्रता परवर्ती हिन्दी उपन्यासकार राजनीति के महत्व को अस्वीकार नहीं करता। चाहे ग्राम कथाकार हो या नगर, महानगर के प्रश्नों और समस्याओं का चितेरा उपन्यासकार, सभी अलग-अलग स्तरों पर राजनीति के महत्व और उसकी भूमिका को शब्द देने की कोशिश में लगे हैं।

ग्रामांचल के उपन्यासों में गाँव में राजनीति का प्रवेश शुभ नहीं माना गया है। वहाँ दिन प्रतिदिन बढ़ते द्वेष, हिंसा, वैर-विरोध और अनात्मीयता के जहर के मूल में राजनीति की गलत भूमिका ही रही है। 'मैला आचंल', 'राग दरबारी', जल टूटता हुआ 'सूखता हुआ तालाब', आदि उपन्यासों में व्यक्त राजनीतिक घटनायें और व्योरे इस बात का प्रमाण हैं। नगर और महानगर के जीवन पर आधारित उपन्यासों में भी यथा स्थान

राजनीति के प्रभाव को अंकित किया गया है। कहीं उसे 'म्यूजिकल चेयर्स का खेल' कहा गया है तो कहीं जनता को फुटबाल की संज्ञा दी गई है। 'झूठा-सच', 'उखड़े हुए लोग', 'अमृत और विष', 'अपना मोर्चा', आदि उपन्यासों में नगर-महानगर जीवन के राजनीतिक सन्दर्भ को अच्छी तरह शब्द दिये गए हैं। केवल राजनीति को ही आधार बनाकर लिखे गये उपन्यासों की भी संख्या कम नहीं। 'हीरक जयंती', 'एक और मुख्यमंत्री', सबहिं नचावत राम गुसाईं', 'काली आंधी', 'जिन्दाबाद मुर्दाबाद', 'हरा समन्दर गोपी चन्दर', 'पद्मधर', आदि अनेक उपन्यासों में स्वतंत्रता परवर्ती भारतीय राजनीति के आकलन का प्रयत्न स्पष्ट है। गणतन्त्रीय व्यवस्था में जी रहे रचनाकार के समक्ष राजनीतिक-व्यवस्था के नाम पर नेता, दल, चुनाव और कुर्सी की व्यवस्था ही मुख्य है।

लगभग इन सभी उपन्यासों में किसी न किसी राजनीतिक व्यक्ति को आधार बना कर तथा कथित राजनीतिक नेताओं द्वारा दुहरे-तिहरे स्तरों पर जिए जा रहे जीवन को स्पष्ट किया है। राजनीति में स्थान बना चुकी प्रचलित खामियों को ढूंढ़ ढूंढ़कर जनता के समक्ष रखा गया है। सभी विवरण या जानकारियाँ प्रामाणिकता के दावों या आश्वासनों के साथ पेश हुई है। इन उपन्यासों के अध्ययन के दौर से गुजरने पर हमें स्वतंत्र भारत की सिद्धान्त-विहीन भ्रष्ट होती जा रही राजनीतिक व्यवस्था की सर्जरी मिलती है। सामयिक राजनीतिक चरित्रों, घटनाओं, सिद्धान्तों आदि सभी व्यवस्थाओं के प्रति उपन्यासकार का रवैया घृणायुक्त और आक्रामक है। पदासीन नेताओं के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के दोहरेपन को बड़े बेबाक शब्दों में चित्रित किया गया है। राजनीति के मंच पर अभिनय के साफल्य की दृष्टि से पुरुष राजनीतिज्ञों की ही नहीं, महिला राजनीतिज्ञों की भी भूमिका बड़ी अहम है। अधिकांश नेताओं की सफलता के पीछे उपन्यासों में उनकी जन सेवा की नहीं अपितु संयोगों की प्रमुखता रही है। राष्ट्र की नैया के खिवैया-इन राजनीतिक नेताओं, के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की छीछालेदर के मूल में उपन्यासकारों द्वारा चुनाव जीतकर देश का भाग्य निर्धारण करने का अधिकार प्राप्त कर लेने जैसी व्यवस्था का विरोध किया है। लोकतंत्र में चुनाव व्यवस्था द्वारा जनता को प्राप्त अधिकार और महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता, पर चुनाव जीतकर आये नेताओं से चारित्रिक शुद्धता और जन-राष्ट्र-मंगल की भवना की अपेक्षा उपन्यासकार करता है। चारित्रिक दौर्बल्य के कारण ही उपन्यासकार इन नेताओं को अपना सम्मान या श्रद्धा समर्पित नहीं कर पाता।

इन दिनों राजनीति में सिद्धान्त कथन ही अधिक हुआ है। यह 'नेता' वर्ग अपनी कथनी और करनी में एक लम्बी दूरी बनाये हुए हैं। सच तो यह है कि इन औपन्यासिक चरित्रों का उद्देश्य जन-सेवा था ही नहीं। वे तो यूं ही बिना किसी पृष्ठभूमि या उद्देश्य के संयोगवश नेता बन गये हैं। अरविन्द (एक और मुख्यमंत्री), आलोक-अलका (जिन्दाबाद मुर्दाबाद) राम लोचन (सबहिं नचावत राम गुसाईं) आदि सब अविचारित अनिर्धारित रूप से परिस्थितियोंवश नेता बन गये हैं। अरविन्द साम्प्रदायिक दंगों से उत्तेजित भीड़ के आगे भाषण देकर नेता बन जाता है, तो जीवन से निराश नपुंसक आलोक को सम्पन्न घरानों के

युवकों की सफल भूख हड़ताल ग्रामवासियों को नेता मानने के लिए बाध्य कर देती है। अलका को स्वार्थवश प्रवीण जैसे लोक सेवक नेता बना देते हैं तो राम लोचन जैसा व्यक्ति बातों-बातों में चुनाव लड़ जाता है। निरुद्देश्य नेता बने ये चरित्र पदासीन होने पर तरह-तरह के भ्रष्ट आचरण करते हैं। सुरा-सुन्दरी से इन्हें विशेष प्रेम रहता है। मालती जी (काली आँधी) तिमिर वरन (समय साक्षी है) सुरा प्रेमी हैं। अरविन्द (एक और मुख्यमंत्री) बाबूजी (हीरक जयन्ती) तिमिर वरन्, एस० जगन्नथन (समय साक्षी है) जैसे नेतागण औरत के शरीर से संगीत पैदा करने और उसके गर्म गोश्त को चचोरते रहने के आदी हो चले हैं। भले ही उनके इस कृत्य से देश या जनता का कोई अहित ही क्यों न होता हो। राजनीतिक चन्दे के नाम पर उगाही और निरन्तर बढ़ते हुए इन नेताओं के बैंक बैलेन्स और कोठियाँ इनकी भ्रष्टता का ही परिणाम हैं। 'एक और मुख्यमंत्री' के कांग्रेसाध्यक्ष दीना राम के शब्दों में यदि देश में सारे मिनिस्टरों के घरों और उनमें टंगे कपड़ों की जेबों की तलाशी ली जाये तो सब में रिश्वत के पैसे मिल जायेंगे। इस बेईमानी की हद तो यह है कि इनके घरों में पूजी जाने वाली ठाकुर जी की मूर्ति तक भ्रष्ट तरीकों से आई होती है।[४] 'एक और मुख्यमंत्री' के जबरसिंह राधेश्याम जैसे पूंजीवादी वर्ग के प्रतिनिधि से अक्सर भेंट स्वीकारते रहते हैं। तिमिर वरन अपनी ही नहीं अपने निकट सम्बन्धियों की भी कोठियां खड़ी करते जा रहे हैं।

आलीशान, ऐययाश जीवन जीते इन स्वार्थान्ध नेताओं को जनता की कतई परवाह नहीं। राधेश्याम द्वारा दिये गये भोज से कितने कंगालों की जानें गईं, यह देखने की फुर्सत जबर सिंह को नहीं। उन्हें तो चुनाव जीतने के लिए धन एकत्र करने की तरकीबें सोचने और कुर्सी रक्षा से ही फुर्सत नहीं। जब जनता दुर्भिक्ष, बाढ़ आदि का सामना कर रही होती है उस समय तिमिर वरन जैसे जन सेवक अपने दलीय राजनीति में बढ़ते विरोध से हिलती कुर्सी को जमाए रखने में व्यस्त रहते हैं। दुहरे स्तर पर जीने के ये आदी हो चुके हैं। जनता के समक्ष इनका रूप एक आदर्श, देशसेवी सन्त से कम नहीं होता जबकि अन्दर से ये सिद्धान्तविहीन अवसरवादी और भ्रष्ट होते हैं। 'हीरक जयन्ती' के बाबूजी के विषय में बुझावन एम०एल०ए० की टिप्पणी दृष्टव्य है—'ऊपर से वे त्याग और सेवा की साकार प्रतिमा नजर आते हैं। जब कि वास्तविकता यह है कि उनके जैसे स्वार्थी, चालाक और क्रूर कोई अन्य नहीं।' तिमिर वरन जब जन-सभाओं में भाषण देते हैं तो लगता है कि कोई महान त्यागी, तपस्वी, देवदूत जनता के दुख दर्द की करुण कहानी सुना रहा है, पर दूसरी तरफ वे एक हाथ में लाइसेन्स और दूसरे में नोटों के बन्डल थामे करोड़ों की माया इधर-उधर कर रहे हैं।[५] इन सिद्धान्त विहीन नेताओं के भी कुछ मूल्य हैं, राजनीति के बारे में उनके अपने अनुभव हैं, विचार हैं, जिनसे इनकी मनोवृत्ति का अच्छा परिचय मिलता है। अरविन्द का कहना है कि आज सत्य, धर्म, मानवता, राष्ट्र, राष्ट्रीयता और त्याग शब्द अपनी महत्ता और मूल्य खो चुके हैं। उसके अनुसार सफल नेता बनने के लिए पैसा, जातीयता, तिकड़म, झूठ और कठोरता आदि आवश्यक गुण हैं।[६] 'काली आंधी' के नेरेटर के अनुसार

ईमानदारी और बेईमानों में चार अंगुल का भी अन्तर नहीं है। राजनीति यही है और राजनीति की सफलता भी यही है कि आपका पहलू ईमानदारी से भरा हुआ और सही माना जाये। 'सबहिं नचावत राम गुसाई' के झंझावत के शब्दों में 'हाथ छोड़ना' यानी कि धौल-धप्पा जूता लात आज की राजनीति का लेटेस्ट फ्रेज बन रहा है। अवैध व्यापारों, डाका काण्डों के अन्यतम हीरो नेताओं के राजनीति में प्रभावी हो जाने पर 'हीरक जयन्ती' में व्यंग किया गया है।

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में चुनाव का महत्व असंदिग्ध है। चुनाव जिसके माध्यम से ये लोग नेतागीरी के लिए आथराइज्ड होते हैं, आज एक पुनीत और ईमानदार न रहकर एक भ्रष्ट और हथकण्डों भरा एक खेल भर रह गया है। अपनी विजय के लिए तरह-तरह के अमानुषिक कृत्यों पर उतर आने वाले इन नेताओं ने उपन्यासकार की नजर में इसका महत्व गिरा दिया है। चुनावी भ्रष्टाचार के नमूने 'एक और मुख्यमंत्री' 'काली आंधी'' 'पक्षधर' और 'समय साक्षी है' में देखे जा सकते हैं। अरविन्द (एक और मुख्यमंत्री) के चुनाव अभियान में वैधानिक और अवैधानिक जितने भी तरीके सम्भव हो सकते थे प्रजातंत्र के प्रथम निर्वाचन में उपयोग किये गये-नोट बांटे गये, मन्दिर-मस्जिदों को चंदा बांटा गया। 'काली आंधी' में मालती जी के एजेन्ट चुनाव जीतने के लिए कभी नौटंकी और कव्वाली का आयोजन करते हैं, और कभी प्रसाद, चरणामृत बांट कर मत दाताओं को राम जी की सौगन्ध देते हैं। मालती जी के एजेन्ट स्वयं ही तय करके मालती जी का सिर फोड़ने में भी पीछे नहीं रहते ताकि विरोधी दलों के नाम इस घृण्य कृत्य को थोप कर जनता का समर्थन अपने पक्ष में कर सकें। धर्म, जाति और सम्प्रदाय के नाम पर ये धर्म निरपेक्षता का बखान करने वाले राजनीतिज्ञ अपना चुनाव लड़ते हैं। 'पक्षधर' का अमिताभ वाम राजनीति के विरुद्ध सरकारी तिकड़मों और प्रतिरोधों की ओर इंगित करता है—'कम्यूनिस्टों के खिलाफ उनके पास राष्ट्रवाद है, भाषा और धर्म की अन्धता है और ट्रेडयूनियजिस्म है।' पार्टी चुनाव में उचित अनुचित का भेद किये बिना सभी तरह के अनैतिक तरीकों का खुलकर उपयोग किया जाता है। 'सबहिं नचावत राम गुसाई' में जबर सिंह चिरन्जी लाल चौरसिया को शहर से बाहर एक मकान में बन्द करा देता है ताकि निर्विरोध जीता जा सके। गलत तरीकों से प्राप्त हुई कुर्सी को बचाये रखने के लिये निरन्तर इन्हें अनेक स्तरों पर सावधान रहना होता है। छल, फरेब, झूठ और राजनीतिक हत्याओं का बेहिचक सहारा ये पदासीन व्यक्ति अपनी कुर्सियाँ बचाने के लिये लेते हैं। 'समय साक्षी है' में प्रधानमंत्री व तिमिर बरन आदि के द्वारा इस सत्य को उद्घाटित किया गया है।

राजनीति में तानाशाही के बढ़ते प्रभाव को लेकर उपन्यासकार चिन्तित हैं। दल विहीन राजनीति की आकांक्षा इन उपन्यासों में नहीं की गई है। बहुदलीय प्रणाली भी इन्हें नहीं जंचती। दलों की बढ़ती तादात और इन दलों में लोक-मंगल की भावना के शून्यात्मक अभाव पर खेद-चिन्ता अवश्य व्यक्त हुई है। शासक वर्ग द्वारा प्रतिक्रियावादी ताकतों के नाम जनता तथा विरोधी दलों के दमन की नीति और विरोधियों द्वारा जनता के

हृदय में स्थान बनाये बिना कुर्सी हथियाने के लिए हाथ-पैर पटकना दोनों ही स्थितियों की उपन्यासकारों ने आलोचना की है। 'हरा समन्दर गोपी चन्दर' में उपन्यासकार ने इंगित किया है कि शासक दल कांग्रेस सहित सभी दल देश को गन्दगी से भरने और लूटने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर रहे। 'देश में गोबर रूपी दलों की तादात इतनी बढ़ती चली गई है कि राष्ट्रीय, प्रादेशिक और स्थानीय राजनीतिक दलों की पहचान तक करना मुश्किल हो गया है। पिछले चुनावों तक जनता पर विरोधी दलों का कोई अच्छा प्रभाव नहीं था। उसकी दृष्टि में राजनीतिज्ञ सिर्फ दो खेमों में बंटे थे--प्रतिक्रियावादी और प्रगतिवादी। 'समय साक्षी है' के रचनाकार के शब्दों में जनता की नजर में इन दोनों ही खेमों के राजनीतिज्ञों की ,आन्तरिक स्थिति में रंचमात्र भी अन्तर दृष्टिगोचर न होता था। विपक्ष को परास्त करने के लिए जो हथकंड एक दल अपना रहा था, लगभग वैसे ही दूसरा दल। 'इन दलों के कोई स्पष्ट सिद्धान्त और उद्देश्यों के न होने से दल बदल की अवसर वादी प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। स्वार्थवश दल बदलने का रोग बढ़ता ही गया और दल बदल को विपक्षी सरकारों के गिराने में बतौर सफल हथियार काम में लाया गया। 'हीरक जयन्ती' में बाबूराम सागर एम० पी० सोशलिस्ट पार्टी, किसान सभा, फारवर्ड ब्लाक से होते हुए कांग्रेसी बने हैं। 'समय साक्षी है' के शेषगिरि और पी० पी० को दल बदल कराने और विपक्षी विधायकों की खरीद फरोख्त करने में महारथ हासिल है। नोटों के थैले खोल देने, पी० पी० के राज्यों में प्रवेश के साथ ही राज्य सरकारों की चूलें हिलने लगने के उदाहरण प्रस्तुत कृति में उपलब्ध हैं।

राजनीतिक व्यवस्था और व्यवस्थापकों के दोष-दर्शन के साथ उपन्यासकारों ने इस सबके लिए जन सामान्य को राजनीति के प्रति उदासीन मनोवृत्ति को कारण माना है। इस उदासीन मनोवृत्ति का ही यह दुष्परिणाम है कि देश की राजनीति ने गलत दिशा ले ली है और नेताओं की भ्रष्टता पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ती जा रही है। 'हरा समन्दर गोपी चन्दर' के रचनाकार के अनुसार देश की आज की राजनीति एक ऐसा रथ है जिसमें सिर्फ एक पहिया है--शासन की राजनीति या अधिकार की राजनीति। और रथ में भारत की साठ करोड़ जनता बैठी चिल्ला रही है कि रथ आगे क्यों नहीं बढ़ता। राजनीतिक चेतना के अभाव में पनपी उदासीनता से लाभ उठाकर राजनीतिक नेता और स्वार्थलिप्सा, पदलिप्सा और सत्ता प्रियता में डूबते ही जा रहे हैं। उन्हें विश्वास है कि जनता अपने नेताओं को परखने की कोशिश नहीं करती उल्टे उन्हें जय-जयकारों और मालाओं से लादकर उनकी प्रकट होती सचाई को ढांप और देती है। परिवर्तनकामी लालसा के साथ उपन्यासकारों ने जनता को प्रबोधने की कोशिश की है। विक्रम 'हरा समन्दर गोपी चन्दर) शोषितों को समझाता है कि तुम्हें अपनी लड़ाई स्वयं लड़नी है, कोई दूसरा तुम्हारी लड़ाई नहीं लड़ सकता। रक्त में चुपचाप आ बैठे सहते जाने को पाप को निकाल फेंकने में वह उनकी मदद करता है। 'पक्षधर' में जर्नादन अपने नतृत्व में जन युद्ध का आह्वान करता है। छल कपटपूर्ण राजनीति में परिवर्तन के लिये उपन्यासकार प्रयत्नशील है। आज के हालातों में 'समय साक्षी है' के अनिल वरन के शब्दों

में वह सोचता है 'इस तरह का रामराज इस मुलुक में आएगा जानते तो शुरू होने से पहले ही उसे दफना डालते। वह भविष्य में ऐसी राजनीति, जिसकी धुरी मानव कल्याण या मानव मुक्ति हो, की इच्छा रखता है।' 'हरा समन्दर गोपी चन्दर' में वर्तमान स्थिति में जनता की राजनीतिक चेतना की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा गया है—'जो लोग राजनीति से बाहर रहकर स्वतंत्र और शरीफ सभ्य, सज्जन होने का दावा करते हैं वे ढोंगी हैं कायर हैं, गुलाम हैं। आजादी की लड़ाई में जितनी राजनीतिज्ञों, कर्मपुरुषों, कार्यकर्ताओं, सत्याग्रहियों और आतंकवादियों की जरूरत थी उनसे कहीं ज्यादा आज स्वराज्य को बनाये रखने के लिये और इस मुल्क को एक सार्थक, मजबूत, क्रान्तिकारी विकल्प देने के लिए उनकी जरूरत है।'

राजनीति के आकाश से स्वार्थ, कुटिलता और कुर्सीलिप्सा के काले-अंधेरे बादलों के भविष्य में छटकर साफ हो जाने के प्रति उपन्यासकार पूर्ण आश्वस्त है। इसीलिए राजनीतिक मंच पर गलत व्यक्तियों के साथ-साथ कुछ अच्छे जन सेवी नेतृत्व कर्ताओं की कल्पना भी उन्होंने की है। 'एक और मुख्यमंत्री' में शंकर भाई 'हरा समन्दर गोपी चन्दर' में विक्रम, 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' में राम लोचन, 'पक्षधर' में जर्नादन, 'समय साक्षी है' में शिव सुन्दरम जैसे राजनीतिक चरित्रों की सृष्टि के पीछे उपन्यासकारों का यही आशावादी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। आधुनिक भ्रष्ट राजनीतिक वातावरण में परिवर्तन के प्रति उनकी आश्वस्ति का प्रमाण-रामलोचन की विजय (सबहिं नचावत राम गुसाईं) विक्रम के लोक पक्ष की विजय (हरा समन्दर गोपी चन्दर), जर्नादन के नेतृत्व में जन समर्थन द्वारा जन राज्य की स्थापना (पक्षधर) समय रहते राष्ट्रपति शासन की घोषणा और राष्ट्रपति द्वारा सुखद भविष्य की ओर बढ़ने के लिए जनता का आह्वान (समय साक्षी है) आदि अधिकार-पूर्वक चित्रित वर्णनों में देखा जा सकता है।

राजनीतिक विकल्प की तलाश में निकले ये उपन्यासकार वर्तमान व्यवस्था का विरोध तो बड़े तीखे और खुले स्वरों में करते हैं पर व्यवस्था परिवर्तन के बाद के लिए कोई निश्चित, सही और मान्य विकल्प ये नहीं दे पाए। जनता के जाग्रत होने और युद्ध के लिए सन्नद्ध होने की बातें तो ये उपन्यासकार करते हैं पर कोई रणनीति इनके पास नहीं। विकल्प के नाम पर 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' में रामलोचन की विजय आरोपित आदर्शवाद से मंडित है। वह भले ही नई पीढ़ी का प्रतिनिधि हो पर कोई स्पष्ट राजनीतिक दृष्टि उसके पास नहीं है। 'हरा समन्दर गोपी चन्दर' में जिस लोक पक्ष की विजय का स्वप्न देखा गया था वह 'जनता मोर्चा' के रूप में पूरा हुआ। पर प्रश्न है कि क्या कोई सुस्पष्ट सुचिंतित राजनीतिक दृष्टि या विचारधारा जनता को दे सका है? निश्चित ही नहीं। 'पक्षधर' के उपन्यासकार ने हिंसा को एक मात्र विकल्प माना है। वामपन्थी विचारधारा के साथ गुरिल्ला रणनीति को यह उपन्यास सामने रखता है। नई शुरुआत सिर्फ क्रान्ति से ही संभव है। "क्रान्ति मनुष्य की उच्चतम क्रीड़ा है। शत्रु से नफरत का मतलब है, शत्रु समाज के लिए विषकीट है। विषकीट या जहरीले पौधे से प्रेम की क्या जरूरत है? उन्हें

उखाड़ते-मारते कोई किसान पश्चाताप से नहीं रोता; क्रान्ति ऐसी ही किसनी है ।'' वियतनाम में अमेरिका की पराजय या बोली विया में चेगुएवरा का साहसिक अभियान भले ही इस उपन्यास के सुझाए विकल्प का समर्थन करें परन्तु भारतीय जनता अभी हाल के चुनावों से यह सिद्ध कर चुकी है कि उसे परिवर्तन लाने के लिए 'बुलेट' की नहीं 'बैलेट की ही आवश्यकता है । गाँधीवादी मूल्यों को तो पहले ही छोड़ चुके थे राजनीतिज्ञ, अब प्रगतिशील मूल्य और समाजवादी व्यवस्था जैसी शब्दावली भ्रामक अविश्वास्य लग रही है । 'समय साक्षी है' का रचनाकार वाम राजनीति से किंचित विचलित होकर गान्धीवाद जैसे मध्यमय मार्ग की वकालत करता नजर आता है ।

बुद्धिजीवी वर्ग से देश की जनता जिस राजनीतिक समझ, संयम और उद्देश्य की अपेक्षा अपने निजी राजनीतिक ज्ञान-वृद्धि व दिशानिर्देशन के लिए करती है, ऐसी कोई महान कालजयी कृति हमें प्राप्त नहीं हुई । मौजूद व्यवस्था से तंग आकर युवाकवि धूमिल ने एक जगह लिखा है कि मुझे दूसरे प्रजातन्त्र की तलाश है लेकिन उनके सामने इस दूसरे प्रजातन्त्र का स्वरूप स्पष्ट नहीं था । इसी प्रकार वर्तमान व्यवस्था से आतंकित और पीड़ित उपन्यासकार सामान्यजन के हितों की रक्षा करने वाली किसी व्यवस्था की कल्पना तो करता है लेकिन इस विकल्प का स्वरूप और उसकी प्रासंगिकता उनके सामने स्पष्ट नहीं है ।

संदर्भ-संकेत

(१) कमलेश्वर : नई कहानी की भूमिका : पृ० १७५ । (२) डॉ० रामदरश मिश्र : साहित्यालोचन-जन० ७३, पृ० २५ । (३) अशोक बाजपेयी : फिलहाल : पृ० १२७ । (४) समय साक्षी है : पृ० ७० । (५) वही पृ० ४५ । (६) एक और मुख्य मन्त्री : पृ० ७२ । (७) पक्षधर पृ० ६४-६५

मानस के दार्शनिक मन्तव्यों एवं स्थलों का काव्यरचनापरक विवेचन

डॉ० योगेन्द्र सिंह

रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास राम के भावावतार की कथा कहते हैं। भावावतार की यह कथा दाशरथि राम से जुड़ी हुई ब्रह्मराम की व्यंजक है। मनु-शतरूपा की भावनाओं के अनुरूप अपने को प्रकट करके राम अनेकानेक भक्तों की अनेकानेक भावनाओं के अनुरूप आचरण करते हैं। भक्तों की भाषाओं के अनुरूप अपने को व्यक्त करते हैं। सम्पूर्ण रामचरितमानस में ब्रह्म का राम के माध्यम से व्यंजित कराया जाना––एक आश्चर्य का विषय है। राम का यह वृत्त कुछ इस प्रकार आश्चर्यपूर्ण है कि इसे देख-सुनकर मुनियों के मन में भी भ्रम उत्पन्न होने लगता है। भक्ति भावना की दृष्टि से राम के व्यक्तित्व का यह द्वैत चाहे जैसा हो, किन्तु काव्य की दृष्टि से अनेक जटिल समस्याएँ उत्पन्न करता है।

रामचरितमानस की कथावस्तु दुहरे प्रसंग विधान से संगठित है। नृपतनय राम एवं ब्रह्मराम भी कथाएँ समानान्तर चलती हैं। कथा नृपतमय राम की है—ब्रह्मराम का प्रसंग उसी के साथ-साथ अभिव्यंजित होता चलता है—शब्दार्थ की विविध भंगिमाओं से। गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार यही रचना प्रबन्ध की विलक्षणता है।

जेहिं यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरज करै सुनि कोई।
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं अस जानी।
राम अनन्त अनन्त गुन, अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरज न मानिहंहि, जिन्ह के बिमल बिचार।

कवि का यह कथन वस्तुविन्यास की विलक्षणता की ओर संकेत करता है। एक नृपतनय की कथा के साथ धार्मिक विश्वास को जोड़कर, भक्ति से सम्पुटित करके तथा दार्शनिक रहस्यमयता की अर्थमयी परिणति देकर आश्चर्यमयी बनाने की चेष्टा निरन्तर की गई है। रामचरितमानस की यह कथा सम्भ्रम तथा सत्य के विम्बों-प्रतिविम्वों में बार-बार अर्थों को व्यंजित करती हुई चलती है। पार्वती कहती हैं––

जौनृप तनय त ब्रह्म किमि, नारि बिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमित बुद्धि अति भोरि॥—आदि-आदि।

कहने का आशय यह कि आदि से अन्त तक रामचरितमानस में कथा के बीच प्रसंगों एवं सापेक्ष अर्थों (Relative meanings) का द्वैत वर्तमान है। रामचरितमानस का यह कथात्मक संगठन जहाँ एक साथ दुहरे अर्थों की प्रतीति कराता है, प्रबन्ध दोष नहीं है। कारण कि, इस स्थिति के कारण न तो कहीं भाव सम्प्रेषण में कोई जटिलता उत्पन्न होती है और न अस्पष्टता ही दिखाई पड़ती है। रामावतार नितान्त गुप्त एवं रहस्यमय प्रसंग है। इसको विरले ही जानते हैं और जानने वाले इस रहस्य को खोलना नहीं चाहते—

हृदय विचारत जात हर, केहिं विधि दरसन होइ।
गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु, गए जान सब कोइ।

दाशरथि राम लोक-प्रतीति के विषय हैं और लोक-प्रतीति के माध्यम से ब्रह्म या आध्यात्मिक प्रतीति सम्भव है। लोक को समझे बिना, अध्यात्म को समझना असम्भव है। मिथ्या प्रतीति सत् प्रतीति के लिए एकमात्र हेतु है। रामचरितमानस की कथावस्तु की यही विलक्षणता है। रामचरितमानस की मूल कथा का आधार ही यदि छोड़ दिया जाए तो आध्यात्मिक कथा का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। इसीलिए मानस की कथा का विन्यास कुछ इस रूप में हुआ है कि पूरी कथा लोक तथा अध्यात्म के द्वन्द्वों से टकराती हुई चलती है। लोकप्रसिद्ध कथा में गूढ़ आध्यात्मिक आशय को सन्निविष्ट कराकर कवि उसे बोधगम्य बनाने की चेष्टा में रत है। एक ही साथ, लोक तथा अध्यात्म के दुहरे अर्थों की छायाओं को अंकित करके कवि ने कथा संगठन के स्तर पर एक विशिष्ट वैचित्र्य को उभारने की चेष्टा की है। एक ही कथा को दुहरे अभिप्रायों से संयुक्त करके रचना करने की परिपाटी भारतीय काव्य-परम्परा में विद्यमान है। संधान काव्य के अन्तर्गत श्लेषादि वर्णनों के आधार पर प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत अर्थों को समानान्तर भाव से रचने की परम्परा नितान्त प्राचीन है जिस व्यंग्य को स्पष्ट करना मानसकार का उद्देश्य है, उसे श्लेष काव्य रचना परिपाटी से ही कहा जा सकता है, किन्तु प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत की वह सहजतम अभिव्यक्ति जो मानसकार को अभीष्ट है, इस परिपाटी से सम्भव नहीं है। दूसरी ओर काव्य रचना की अन्य परिपाटियों, समासोक्ति, व्याजोक्ति एवं अन्योक्ति विधान की है। प्रबोध चन्द्रोदय एवं जायसी कृत पद्मावत जैसी काव्य रचनाओं की रचना परिपाटियों से भली-भाँति परिचित होकर भी वह उन्हें नहीं स्वीकार करता। मूलतः कथा को जिस सहज रूप में वह उतारना चाहता था, उसमें उक्त परिपाटियों की अस्पष्ट एवं गूढार्थ पद्धति सहायक नहीं हो सकती थी। तुलसीदास मानस की कथावस्तु की प्रस्तुति में एक ऐसे आधार को ग्रहण करना चाहते थे, जिसमें बाह्य कथा अपने मूल की किंचित् मात्र भी अवमानना न करते हुए, उस अभिप्राय को व्यक्त कर सकने में समर्थ हो जो उनके लिए अभीष्ट है। लोक परलोक, जड़-चेतन, शरीर-आत्म, असत्य-सत्य के ही द्वन्द्वों की भाँति पूरी कथा ऐहिकता तथा आध्यात्मिकता की अर्थच्छाया से एक दूसरे को प्रतिच्छायित करती चलती है। यह प्रतिच्छाया उसी प्रकार अभिन्न है—जैसे शब्द एवं अर्थ, एक दूसरे से भिन्न, साथ ही अभिन्न तथा एक दूसरे के व्यंजक भी हैं। लोकचरित एवं गूढ़ आध्यात्मिकता एक दूसरे से नितान्त भिन्न होते हुए एक दूसरे की व्यंजक हैं। पूरी कथा में ये दोनों तत्त्व भिन्न होते हुए गहन रूप में अभिन्न हैं—

ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ तस अदभुत बानी।

इस प्रकार का कथा संगठन सामान्य न होकर कवि की विशिष्ट प्रतिभा का स्फुरण है। भारतीय साहित्यशास्त्र के अंतर्गत रचना के इस वैशिष्ट्य का समाधान ध्वनिवादियों ने दिया है।

मूलत: रामचरितमानस में दाशरथि राम की लौकिकता वस्तु है, जिससे प्रतीयमान आध्यात्मिकता व्यंजित कराई गई है। इस प्रतीयमान को कवि ने प्रसंग से, कथन से, भंगिमा से, प्रकरण से, वाक्यविन्यास एवं रचनात्मक विदग्धता से—जहाँ जैसा उसने उपयुक्त समझा—व्यंजित कराने में चूक नहीं की। वस्तु एवं प्रतीयमान की जो भी अभिन्नता ध्वनि-वादियों ने प्रतिपादित की है, तद्वत् अपने सम्पूर्ण वैशिष्ट्य के साथ वह रामचरितमानस में घटित है। दाशरथिराम की कथा रचना का प्रसंग है, और उसका सम्पूर्ण लावण्य आध्यात्मिक आशय है। कथा के विविध प्रसंग प्रबन्ध वस्तु की भाँति गूढ़ आध्यात्मिक लावण्य को अपने में समेटे हुए हैं। लोक से अध्यात्म को व्यंजित कराने की यह रचनात्मक प्रक्रिया मानस में प्रारम्भ से अन्त तक देखी जा सकती है। कवि सर्वत्र इस प्रतिपादन के प्रति सचेष्ट है कि लोक-प्रसंग आध्यात्मिक व्यंग्य को सही ढंग से प्रस्तुत कर सके। मानस का प्रस्तावना-भाग, शिवकथा-प्रसंग, अवतार के विविध हेतु, मानस में आई हुई सहकथाएँ--जिन्हें पुराण-काव्य की सिद्धि के लिए प्रबल साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है, वे ध्वनि काव्य के अन्तर्गत प्रबन्ध ध्वनि के मुख्याशय को व्यंजित कराने की सामग्रियाँ हैं। इन्हीं के माध्यम से लौकिक कथा के अन्तर्गत निर्मित गूढ़ाशय एवं मर्म का दिव्यालोक मानस-मर्मज्ञों को चकित करता है।

ध्वनिकार स्पष्ट रूप से इस संदर्भ में बताता है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति करा चुकने के बाद भी वाच्यार्थ का अस्तित्व समाप्त नहीं होता। लोकाशय की रामकथा से व्यंग्यार्थ सिद्ध हो जाने के बाद भी दोनों का समान तथा निरन्तर अस्तित्व बना रहता है-वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ परस्पर एक दूसरे से घट कर नहीं हैं—

स्वसामर्थ्य वशेनैव वाक्यार्थं प्रथमन्नपि।
यथा व्यापार निष्पत्तौ, पदार्थों न विभाव्यते॥

जायसी के पद्मावत की वस्तु रचना में समासोक्ति पद्धति के कारण उसके बाह्य तथा आन्तरिक अर्थ की सटीक संगति नहीं बैठ पाती। केशवदास-कृत विज्ञानगीता में रूपक के कारण प्रस्तुत अंश मात्र प्रतीक बनकर सामान्य तथा महत्त्वहीन बन जाता है। श्लेष-काव्य में अर्थ की गूढ़ तथा सचेष्ट दृष्टि काव्यार्थ की सहजता को विकृत कर देती है। इन सबसे भिन्न रामचरितमानस का वस्तु प्रबन्ध प्रतीयमान से सम्बद्ध होने के कारण निरन्तर अपने दुहरेपन के अस्तित्व की रक्षा करते हुए भी उस अर्थ विशेष को उसी गहराई से व्यक्त करने में समर्थ हो पाता है, जो उसे सर्वथा अभीष्ट है। रामचरित मानस के वस्तु-विन्यास के विषय में गूढ़त्व तथा अस्फुटत्व जैसे दोष की परिकल्पना निराधार है। मानस का बाह्य कलेवर इतना स्पष्ट है कि अन्तर्वर्ती अर्थ का हृदयगंम करना पाठक के लिए नितान्त सुगम

है। व्यंग्य, कथा में सम्मिलित भाव से संयुक्त होकर निरन्तर गूढ़ाशय के साथ व्यक्त होता चलता है। मानस में वस्तु एवं व्यंग्य दोनों सर्वथा अभिन्न हैं। इस अभिन्नता के कारण दोनों साथ-साथ अभिव्यक्त होते चलते हैं। विविध लोकभाव हर्ष, पुलक, मोद, निर्वेद, दैन्य आदि कथावस्तु के ढाँचे के साथ-साथ रंजन, चमत्कार, आश्चर्य आदि से जुड़े हुए निरन्तर अनुभूत तथा आस्वाद्य होते हैं। कथा का यह दुहरापन दार्शनिकता से सम्पृक्त होते हुए भी दर्शन का विषय नहीं है। लोक भाव में चमत्कार रचना को सम्बद्ध करके कथा के पैटर्न को मार्मिक तथा समृद्ध बनाने की यह एक रचनात्मक कुशलता है। अतः साहित्य जगत् में इस प्रकार की बहसें कि राम दशरथ-सुत हैं या नहीं कोरे बुद्धि-विलास की सूचक हैं।

राम ब्रह्म के रूप में मनु-शतरूपा, सती, कौसल्या, भुशुण्डि आदि के समक्ष आते हैं। इसी भाव की व्यंजना अहल्या, परशुराम, तापस, केवट, भरद्वाज, वाल्मीकि आदि के समक्ष भी होती है। एक ही रूप, बार-बार प्रत्यक्षतः या संकेततः प्रयुक्त होकर क्या कुरुचि का हेतु नहीं बनता? इसका स्पष्ट उत्तर है, नहीं। कारण कि जैसा पहले कहा जा चुका है—मानस राम के भावातार की कथा है। मनु-शतरूपा के समक्ष जो ब्रह्म प्रकट होते हैं, सर्वथा उससे भिन्न सती के सभक्ष उससे भिन्न अहल्या के समक्ष, भुशुण्डि के समक्ष प्रकट होने वाले राम सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पात्रों के भिन्न-भिन्न भावों के अनुरूप उनका अवतरण पुनरावृत्ति न होकर सर्वथा स्वरूप की नित्यता है। एक ही ब्रह्म राम भक्तों की आन्तरिक वासनाओं के अनुरूप भिन्न-भिन्न रूपों में भावित होते हैं। ध्वनिकार बताता है कि पूर्ववृत्त कवि कल्पना से संयुक्त होकर निरन्तर नवीन हो जाते हैं। महाभारतादि में अनेकानेक बार युद्ध की पुनरावृत्तियाँ, पुनरावृत्ति के रूप में कुरुचि न उत्पन्न करके सर्वथा नएपन से युक्त हैं। रसादि के संसर्ग से अनेकानेक पुरावृत मधुमास के सम्पर्क में आनेवाले पुराने आम्रवृक्ष की भाँति सर्वथा नए पुष्प एवं नवीन गन्ध से आन्दोलित हो उठते हैं। मानस में इस प्रकार के अंश पौराणिक या दार्शनिक आशय की पुनरावृत्ति नहीं हैं। वे रचना के नएपन से सर्वथा नए रूप में आस्वादित होते हैं। कवि कल्पना का स्पर्श पाकर वे नए बन जाते हैं, एकदम ताजे।

एक ही व्यक्तित्व का दो रूपों में आना सर्वथा काल्पनिक चमत्कार का विषय है। कवि इस व्यापार को नट-व्यापार से उपमित करता है। जिस प्रकार नट अभिनय विशेष में संलग्न सम्पूर्ण नाटकीय व्यापार के परिणामों से परिचित दर्शकों के सम्मुख मंच पर वृत्त प्रस्तुत करता है। ठीक उसी प्रकार दशरथ-पुत्र की कथा लोकमंच पर प्रस्तुत की हुई कथा की भाँति है। राम नट हैं। अभिनय के पूर्व नट नट ही था। अभिनय के बाद भी वह नट है। अभिनय काल में उसने एक नृत्य प्रस्तुत किया, नटत्व का आच्छादन करके। ठीक इसी प्रकार रामावतार के पूर्व राम ब्रह्म है--बाद में भी और लोकचरित के मूल में उनका नटत्व उनकी मूल प्रकृति है। अभिनय उसके नटत्व को थोड़ी देर के लिए छिपा भर देता है—

यथा अनेक वेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावई, आपुन होई न सोइ।

राम के व्यक्तित्व के इस द्वैत में सम्पूर्ण विलक्षणता भक्ति के कारण है। प्रेक्षकों को अभिनय ही अभीष्ट है, नट नहीं। भक्ति एवं अवतरण की भूमिका में नटन व्यापार भक्तों के लिए पूर्ण काव्य है। अभिनय व्यापार इसीलिए अभीष्ट है कि उसके मूल में नट का अलौकिक और विलक्षण व्यक्तित्व निहित है। भक्तों के लिए दोनों ही काम्य हैं, नट और अभिनय, दोनों। दोनों रूपों को ग्रहण करने में भक्त को किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं है। लोकजन तथा सामान्य पाठक के लिए यह कौतूहल एवं चमत्कार है--

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। ज. मोहहिं, बुध होंहि सुखारे।

कथात्मक स्तर पर व्यक्तित्व का यह दुहरापन बराबर प्रकट होता चलता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने वृत्तगत चमत्कार की चर्चा करते हुए इस प्रकार के द्वन्द्वात्मक नाटकीय व्यापार को 'प्रख्यात वृत्तगत चमत्कार' की संज्ञा दी है, प्रख्यात वस्तु में कुछ इस प्रकार का परिवर्तन ला देना जिससे कि सम्पूर्ण वस्तु अतिरंजित एवं चमत्कृत हो उठती है। इस प्रख्यात वृत्त का चमत्कार उस व्यक्तित्व से अभिन्न है। यही नहीं, दाशरथि राम का आचरण चरित के रूप में सर्वथा ग्राह्य एवं ब्रह्म राम की अनुभूति का व्यंजक है। लोकवृत्त लोकवृत्त की ही भाँति अनुभूत होता है। यह अनुभूति प्रकृत भावों से सम्बद्ध होने के बावजूद भी भाव रूप में मूल रस को व्यंजित करने में सहायक होती है। राम से सम्बद्ध लोक भाव करुणा, शृंगार, भयानक, वीर आदि अङ्गि न होकर सहायक एवं अङ्ग हैं। इनकी स्थिति संचारि जैसी होती है। मूल ब्रह्म विषयक संसक्ति को व्यंजित करने के ये साधन हैं। ये चमत्कार रूप मूल भक्तिरस के प्रेरक हेतु हैं। ये लोक भाव भक्तिरस के अगाध समुद्र में उन्मज्जित-निमज्जित होते रहते हैं। भक्तिरस इन्हीं के माध्यम से अनुभूत होता है। कुल मिलाकर लोक वृत्त का व्यक्तित्व अपने विविध सम्बन्धों तथा भावों के साथ उस आनन्द रूप भक्तिरस के मूलकेन्द्र में विलीन होता रहता है। जैसा कि कहा गया है, भक्तिरस अगाध समुद्र की भाँति है। नाना प्रकार के लोक भावों की नदियाँ बहती हुई आकर यहाँ विलीन होती हैं। मानस के सम्पूर्ण लोकभाव जिनका सम्बन्ध रामचरित्र से है और जो भावात्मक संशय के रूप में प्रतीत होते हैं, सब के सब भक्ति सागर में अपने अस्तित्व करके भक्तिरस के रूप में आस्वाद्य होते हैं। लोकमान भक्तिरस को व्यंजित करने का हेतु बन जाता है; उसी प्रकार जैसे किसी प्रबन्ध के मूल रस को अङ्गरस मिलकर पुष्ट करते हों।

रामचरितमानस में अनेक ऐसे कथन भरे पड़े हैं, जिन्हें दार्शनिक टिप्पणी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। दर्शन काव्यानुभूति के समानान्तर का तत्त्व है। यह सत्य है कि काव्य को दर्शन कीं ऊर्जा से अभिव्यक्ति की परिपूर्णता मिलती है किन्तु मानस के व्याख्याकारों ने उसकी दार्शनिक टिप्पणियों को दर्शन के रूप में ही ग्रहण किया है। उनके अनुसार वह काव्य न होकर एक चिन्तक का वैचारिक चिन्तन है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनेक नामों-रूपों से परिभाषित यह दर्शन क्या शुष्क दर्शन है अथवा कुछ और ? रामचरितमानस के ये अंश मूलतया काव्य के हैं, केवल दर्शन के नहीं। मानस में गोस्वामी जी ने दर्शन को काव्यमय बना डाला है, ये अंश शुद्ध काव्य के हैं।

दर्शन की कविता में विवेच्य दर्शन अनिवार्य विषय है। विषय-दर्शन का है, इसलिए कविता कविता की मर्यादा से गिरती नहीं है। मानसकार काव्य रचना तथा कल्पना के विविध उपादानों द्वारा दर्शन को भाव का विषय बनाता है, चिन्तन का नहीं। तुलसी के दार्शनिक स्थल अनुभूत एवं आस्वाद्य हैं, चिन्तन सापेक्ष क्षेत्र नहीं। काव्य वाक्य के शब्द तथा शब्द के बीच का भावनात्मक ऐक्य, शब्द तथा अर्थ के बीच का रागात्मक सामंजस्य, अर्थों के विविध काल्पनिक रूपों, छायाओं, प्रतीकों, सादृश्य विधानों को दार्शनिक अभिव्यक्ति से जोड़कर एवं अपने रचनात्मक मन से अद्वैत स्थापित करके जब किसी कवि द्वारा दार्शनिक टिप्पणी दी जाती है, तब उन पंक्तियों में निहित विचार या दर्शन महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता। इस स्थिति में वह प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण हो जाती है, जिसके माध्यम से वह दर्शन विशेष व्यक्त किया जा रहा है। इसी प्रक्रिया का नाम कविता है, और इस कविता का विषय दर्शन है।

रामचरित मानस के अन्तर्गत कवि ने ब्रह्म राम, अवतार, विविध व्यूह, माया, जीव, जगत्, विद्या-अविद्या, संसक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि विषयों पर दार्शनिक टिप्पणी दी है। इन टिप्पणियों को वार्ता मात्र मान लेना उचित नहीं है। मानस में आए हुए इन प्रसंगों एवं कथनों में निहित रचनाशक्ति का विवेचन अपेक्षित है। मानस के दार्शनिक स्थलों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वे स्थल जहाँ इस प्रकार के वक्तव्य स्वतन्त्र रूप से आए हैं। द्वितीय वे जो प्रकरण सापेक्ष हैं। स्वतन्त्र वक्तव्य से सम्बन्धित अंश मानस की प्रस्तावना में अधिक हैं। यहाँ कवि ने पूर्णतया निरपेक्ष होकर ब्रह्म के स्वरूप एवं स्वभाव के विषय में टिप्पणी दी है।

'नाम-माहात्म्य' के अन्तर्गत कवि नाम ब्रह्म के सापेक्षिक अस्तित्व को प्रतिष्ठित करता है। 'नाम' की गरिमा को ब्रह्म स्वरूप की तुलना में अधिक बलवन्तर दिखाने की चेष्टा करता है। नाम माहात्म्य की यह स्थिति अलंकार की दृष्टि से व्यतिरेक का चमत्कार है। 'ब्रह्म की विराटता' किन्तु 'नाम की लघुता' किन्तु प्रतिपादन का दृष्टिकोण 'नाम माहात्म्य' को व्यंजित करना है। कवि रचना की दृष्टि से 'विरोध' एवं 'वैचित्र्य' दोनों को एक साथ उभारता है—

> प्रौढ़ि सुजन जन जानहिं जन की। कहहुँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की।
> एक दारुगत देखिअ एकू। पवाक सम जुग ब्रह्म बिबेकू।
> उभय अगम जुग सुगम नाम ते। कहहुँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते।

'विरोध तथा वैचित्र्य' प्रसंग के स्थायी लक्षण हैं। रचना शैली के स्तर पर नाम तथा राम के बीच सादृश्यगर्भित विविध दृष्टान्तों के माध्यम से कथन के वैचित्र्य को प्रतिपादित करने का भावात्मक आग्रह निरन्तर वर्तमान है। नाम माहात्म्य के औचित्य के लिए वह 'नाम रामायण' जैसे प्रसंग की परिकल्पना करता है। कथा के अन्य आध्यात्मिक प्रसंगों के साथ उसकी संगति की भूमिका उसी कौतूहल के स्तर पर संगठित करता है, जिससे रचना अर्थवत्ता प्राप्त करती है। नवीन 'नाम-रामायण' का काल्पनिक संगठन जो ठोस अर्थों पर आधारित है—इस प्रसंग का मूलाधार है। वर्णब्रह्म>नाम ब्रह्म>निर्गुण ब्रह्म>सगुण

राम ब्रह्म परस्पर क्रमशः अपनी अर्थसंगति के साथ रचना के विविध उपादानों, अलंकरण, अर्थ की भंगिमापूर्ण अभिव्यक्ति, कल्पना-सृष्टि आदि तत्त्वों के माध्यम से पाठक में कौतूहल उत्पन्न करते चलते हैं। चमत्कार सृष्टि की कल्पनापूर्ण अभिव्यक्ति दार्शनिक विवेचन की पद्धति से पूर्णतया भिन्न है। यहाँ रचनागत कौतूहल सम्पूर्ण प्रसंग के अभिप्राय को अपने में आवेष्ठित किए हुए हैं। इस कौतूहल को उभारने का दायित्व 'रचना-सामर्थ्य' पर है।

प्रसंग से सन्दर्भित उदाहरणों में 'सती-मोह' को देखा जा सकता है। शिवपुराण एवं अध्यात्म रामायण में पूर्व प्रयुक्त यह वृत्त यहाँ एक भिन्न रूप में रखा गया है--

फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर बेषा।
जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रवीना।
देखे सिव विधि विष्णु अनेका। अमित प्रभाउ एक ते एका।
पूजहिं प्रभुहिं देव बहु बेषा। राम रूप दूसर नहिं देखा।
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे।
सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भईं सभीता।
हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठी मग छाँहीं।
बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छ कुमारी।

इस विशिष्ट प्रसंग को 'संभ्रम' रचना तत्त्व के रूप में अपने में लपेटे हुए है। यहाँ कवि का उद्देश्य ब्रह्म की सामर्थ्य का विवेचन है--किन्तु इसके लिए यह प्रसंग किसी दार्शनिक टिप्पणी के रूप में नहीं है। यहाँ मोह-बुद्धि को ग्लानि तक पहुँचाने के लिए विषय की विचित्रता एक आधार है। इसी वैचित्र्य से अद्‌भुत निकालकर आश्चर्य तथा कौतूहल को एक साथ व्यंजित करता है। 'चितवा' या 'देखा' 'देखे', 'अवलोके' आदि देखने से सम्बन्धित क्रिया-व्यापार जिसमें मिथ्या एवं सत्य के बीच 'विभ्रम' भाव ो देखना, भाँति भाँति रूपों में देखना और अन्त में कुछ न देखना—के माध्यम से व्यंजित कर रहा है। यह उसकी रचनात्मक पटुता है। ब्रह्म के स्वरूप एवं प्रपंच को विभ्रम से आवेष्ठित करके भावात्मक दृष्टि से पाठक की बुद्धि के लिए वह उसे प्रतीति का विषय बना रहा है। ब्रह्मत्व यहाँ वाक्-रचना के माध्यम से व्यंजित हो रहा है।

मनु-शतरूपा प्रसंग में कवि ब्रह्म के उस परम रमणीक तथा कल्पनागम्य रूप को दृश्याकार करता है—

नील सरोरुह नील मनि, नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि, कोटि कोटि सतकाम।

रामचरितमानस में निर्गुण ब्रह्म का प्रथम बार गोचर होना एक अद्‌भुत घटना है। इस लम्बे प्रसंग की प्रस्तावना यही है कि वह ब्रह्म जो दार्शनिकों के चिन्तन का विषय है,

भक्ति एवं प्रेम से वशीभूत होकर, नेत्रों का विषय बन रहा है—

अगुन अनंत अखंड अनादी। जेहिं चिंतहिं परमारथ वादी।
उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई।

अदृश्य को दृश्य रूप में लाने के लिए भाषिक रचना के स्तर पर कवि के लिए कल्पना की बहुत बड़ी गुंजायश है। जो ब्रह्म प्रकट हुआ है, वह सत्य है कि वह पूर्णतया वैष्णवी कल्पना के आधार पर निर्मित है, किन्तु इस प्रसंग में वह सर्वथा मौलिक एवं निर्लेप है। बिम्ब के रूप में केवल वर्ण के माध्यम से प्रतीति का विषय बनता हुआ अद्भुत रूप जिसका प्रभाव दर्शक पर इस प्रकार पड़ता है—

छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी। एक टक रहे नयन पुट रोकी।
चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा।
हरस-बिबस तनु दसा भुलानी। परेउ दंड इव ठाहि पद पानी।

रूप को देखना, एकटक देखना और बार-बार देखकर भी न तृप्त होना और क्षण-क्षण हर्ष से व्याकुल होकर होश-हवास खो बैठना, ब्रह्म के स्वरूप का यह चित्रण एवं प्रभाव शुष्क काष्ठवत् दर्शनशास्त्र का व्यापार नहीं है। इस प्रसंगों की सान्द्रता रसराज श्रृंगार से भी कहीं अधिक उत्कट एवं प्रभावी है।

बालकांड में राम-प्राकट्य की रामानुजीय व्याख्या हिन्दी के आलोचकों ने भी की है। 'भय प्रकट कृपाला' से लेकर पूरी स्तुति में कवि मानस के अद्भुत् तत्त्व, जो मानस की रचना का महत्त्वपूर्ण धर्म है, को उभारने के लिए सतत् सचेष्ट है। मानस रामावतार की एक गुप्त घटना है। राम-शिव एवं कतिपय विशिष्ट परमार्थ चिन्तकों के अतिरिक्त मानस के शेष पात्र अद्भुत, अशक्य कार्य व्यापार के आधार पर उस विराटता की कल्पना करते हैं। यह विराटता कहीं-कहीं स्वतः लीलाधारी द्वारा दिखाई जाती है, कहीं-कहीं संकेत से बताई जाती है। सभी समझ रहे हैं कि कौसल्या की कुक्षि से सन्तति ने जन्म लिया है, किन्तु इस मर्म को कौसल्या ही समझती हैं—

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रतिवेद कहैं।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहैं।

विवेकीजनों की बुद्धि भी यह सुनकर विचलित हो उठती है कि अपने रोम-रोम में ब्रह्मांड को समेटे हुए ब्रह्म कौसल्या के उदर में कैसे रहेंगे? कौसल्या ही समझती हैं कि वह चतुर्भुज रूपधारी ब्रह्म शिशु नहीं पूर्ण किशोर बनकर पृथ्वी पर प्रकट हुआ और सबसे अद्भुत तो तब घटित हुआ जब कौसल्या के निवेदन करने पर शिशु रूप में रोदन करना शुरू कर दिया—

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। सम्भ्रम चलि आईं सब रानी।

यह सत्य है कि दर्शन की छाया से पोषित पौराणिक कल्पना प्रसंग का आधार है, किन्तु इस पौराणिकता के 'अद्भुत तत्त्व' को रचना के माध्यम से उभार कर प्रतीतियोग्य बनाना कवि कर्म है। अद्भुत एवं पौराणिक ऊहा से सामान्य लोकसत्य में घटना की

आकस्मिक परिणति वास्तविकता एवं विभ्रम दोनों को एकसाथ समेटे हुए है। पूरी रामकथा की रचनात्मक शक्ति सत्य एवं संभ्रम के इन्द्रजाल में फँसी हुई सम्पूर्ण मानस में व्याप्त है। इस प्रकार के प्रसंग उस लम्बे इन्द्रजाल की पृष्ठभूमि से जुड़कर भावात्मक आवेग को उभारते हैं, शक्ति देते हैं। जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है, ब्रह्म को जितनी बार उसकी विराटता के साथ कवि चित्रित करना चाहता है, उतनी ही बार उसकी वर्णन-शैली में भिन्नता आ जाती है। भाषा, वाक -संगठन, वर्णन-क्रम, वैचित्र्य सारे-के-सारे सन्दर्भ बदले हुए, एकदम नए दिखाई पड़ते हैं।

सीता स्वयंवर के संदर्भ में अलंकार शैली के माध्यम से चमत्कार तथा कौतूहल को व्यक्त करने के लिए इसी प्रकार की एक घटना दी गई है। यद्यपि यह प्रसंग भी भागवत पुराण का छायानुवाद है, फिर भी मानस के उस विशिष्ट प्रसंग में यह घटना जिस कौतुक की सृष्टि करती है, भागवत में नहीं—

जिन्ह की रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।
देखहिं रूप महारन धीरा। मनहु वीररस धरे सरीरा।
उठे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी।
रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रकट काल सम दीसा।
पुर बासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन सुखदाई।
नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप।
बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख पद कर लोचन सीसा।
× × ×
रामहिं चितहिं भाव जेहिं सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया।
उर अनुभवति न कहि सकि सोऊ! कवन प्रकार कहै कवि कोऊ।

उल्लेख अलंकार को अद्भुत से सम्बद्ध करके कवि ने एक साथ विविध रसात्मक भाव वीर, भयानक, रौद्र, प्रेम, सख्य, शृंगार, अद्भुत, प्रीति, वात्सल्य, शान्त, भक्ति, गूढ़ प्रणय के माध्यम से (हास्य-करुण को छोड़कर) राम के पराक्रम एवं उनके वैचित्र्य को उभारने की चेष्टा की है। यहाँ ब्रह्म राम आस्वाद्य नहीं होते—आस्वाद्य होता है वह अद्भुत जो भावों की विविधता से संयुक्त होकर दर्शक के लिए कौतुकपूर्ण रहस्य बन जाता है।

रामचरितमानस के इन छोटे-छोटे दार्शनिक स्थलों के स्थान पर लम्बे अंश भी उद्धरण के लिए स्वीकार किए जा सकते हैं। इन लम्बे उद्धरणों से भी ऐसे ही निष्कर्ष निकलते हैं। कवि रचना के विविध उपादानों से दर्शन को चिन्तन का विषय नहीं, अनुभूति एवं आस्वादन का विषय बनाना चाहता है। उत्तर काण्ड का 'ज्ञान दीपक' एवं 'भक्ति चिन्तामणि' को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है—जहाँ कवि का उद्देश्य ज्ञान के माहात्म्य को चित्रित करना किन्तु भक्ति की तुलना में उसे गौण सिद्ध करने का है। ज्ञान-दीपक है तो भक्ति अमूल्य चिन्तामणि।

भुशुण्डि-गरुण संवाद के माध्यम से ज्ञान तथा भक्ति के ये प्रसंग साङ्गरूपक बन्ध पर आधारित हैं। साङ्गरूपक जटिल अर्थ 'विधान की प्रक्रिया से सम्बद्ध होते हुए भी काव्य रचना का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है। इस प्रक्रिया में अर्थ विधान में क्षिप्रता एवं संयुक्तता देखी जाती है। अर्थ एवं भावबोध के वे क्रम जो जटिलता के कारण अनेक रूपों तथा अनेक आवृत्तियों में बार-बार कहे जाने की अपेक्षा रखते हैं, इस प्रक्रिया द्वारा एक ही साथ एक ही बार में कहे जा सकते हैं। इसमें यद्यपि प्रतीक एवं विम्ब जैसा गूढ़ श्लेष नहीं दिखायी पड़ता, फिर भी उपमादि से अधिक सघनता दिखाई पड़ती है। रूपक संश्लिष्ट अर्थ-प्रक्रिया से सम्बद्ध रचना का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है दीपक के विविध सन्दर्भ—गौ, हरित तृण, बछड़े का स्तन पान, दुग्ध का आवेग, दुहा जाना, अवटाना, ठंडा होना, जामन डालना, घृत बनाना, दीपरचना, दीपाधार का रखा जाना, कपास से वर्तिका बनाना, रूई को सँवारना और अन्त में दीपक को जला देना, फिर सम्पूर्ण स्थितियों के बाद—

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीप सिखा इव परम प्रचंडा।

इस दीपक के विविध धर्म एवं परिणाम साङ्गरूपक की रचना प्रणाली के माध्यम से व्यक्त होते हैं। ऐसा-प्रतीत होता है कि कवि दर्शन के शुष्क स्वभाव के ही कारण उसे रूपकबन्ध से आवेष्ठित करता है। मणि उपमादि अलंकारों से आवेष्ठित है और ज्ञान रूपक से। ज्ञान से भक्ति सुकर है। कवि पूरे प्रसंग में तुलनावृत्ति (व्यतिरेक) को आधारभूत तत्त्व के रूप में ग्रहण करता है।

कहेउ ग्यान सिद्धान्त बुझाई। सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई।
राम भगति चिन्तामनि सुन्दर। बसइ गहन जाके उर अन्तर।
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती।
सुगम उपाय पाइवे केरे। नर हत भाग्य देहिं भट भेरे।

मानस के इस लम्बे अंश में ज्ञान तथा भक्ति दोनों में तुलना भाव को माध्यम बनाकर अपनी वैयक्तिक संसक्ति का सामान्यीकरण करता है। रूपकगत जटिल अर्थ वैचित्र्य की छाया चिन्तामणि के प्रकाश में उसी प्रकार मन्द एवं कमजोर दिखायी पड़ती है, जैसे सूर्य के प्रकाश में दीपक। चिन्तामणि के प्रसंग में प्रयुक्त उदाहरण, उपमा, श्लेष, दृष्टान्त, निदर्शना की मालाओं से व्यतिरेक-संसृष्टि की रचनात्मक भव्यता रूपक के अर्थ संश्लेष से कहीं अधिक सुन्दर है। चिन्तामणि की तुलना में वह दीपक स्वतः कान्तिहीन है। माया-युवती अनेक छल-बल से उस दीपक को बुझा देती है

कल बल छल करि जाहि समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा।
× × ×
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई।
× × ×
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहिं बिधि दीप को बारि बहोरी।

प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के बीच का संघटनात्मक औचित्य विविध सूत्रों में उद्घाटित होता है।

प्रस्तुत का अपने सम्पूर्ण धर्मों को काल्पनिक रचनात्मक औचित्य के साथ निगीर्णन कराने की सचेष्टता शास्त्र की तर्कबुद्धि का प्रतिफल नहीं है। रचना में भाषा को निरन्तर गरिमा और सामर्थ्य देने का यह प्रयास काव्य-प्रक्रिया के धर्म से जुड़ा है। भारतीय परम्परा के अन्य समर्थ कवियों की भाँति गोस्वामी तुलसीदास जी भी अभिजात्य का समर्थन करते हैं। चिन्तामणि का वैशिट्य विविध अलंकारों के सापेक्ष्य में इस प्रकार है, अलंकार ध्वनि से अलंकार और अलंकार से पुनः वस्तु विषय का माहात्म्य—अर्थ की पर्त-दर-पर्त सतहों से उभड़ता है। जैसा कि ध्वनिवादियों ने अलंकार ध्वनि का उद्देश्य अर्थ की विविध सतहों के बीच छिपे व्यंग्य को कौतुकमयी रचना के माध्यम से उभारने की चर्चा की है, ठीक उसी क्रम में रूपक, उपमादि वाच्य अलंकारों से व्यतिरेक रूप व्यंग्य को कवि नितान्त कुशलता से व्यक्त करता है और इस कुशलता का वैचित्य पुनः तब और बढ़ जाता है, जब कि व्यंग्य रूप व्यतिरेक वस्तु बनकर भक्तिरूप व्यंग्य को अपनी प्रक्रिया से झलकाने लगता है। इसी को अभिधावादियों ने दीर्घ-दीर्घतर व्यापार अभिधा की संज्ञा दी है। इसको समझाते हुए उन्होंने बताया है कि जैसे वाण कवच को विद्ध करके हड्डियों को तोड़ता हुआ हृदय को विदीर्ण करके वक्ष को तोड़कर पार कर जाता है, ठीक उसी प्रकार एक पैना अर्थ अपनी अनेक पर्तों को व्यंजित करता हुआ नितान्त सटीक वाक्य-रचना के गूढ़ मर्म को उद्घाटित करने में सहायक होता है। रामचरितमानस की अनेक दार्शनिक टिप्पणियों में शिल्प तथा भावविधान के साथ अर्थों की टकराहट कुछ इसी प्रकार है। प्रस्तुत प्रसंग भी इसी वैशिष्ट्य को व्यक्त करता है।

इन विविध प्रसंगों के माध्यम से यह निश्चित हो जाता है कि मानस की दार्शनिक टिप्पणियाँ दर्शन से सम्बद्ध न होकर काव्य वाक्य के रूप में हैं। वाक्य शिल्प एवं भाव-कल्पना दोनों दृष्टियों से उन पंक्तियों का दर्शन आस्वाद्य होता है, तर्क तथा ज्ञान का विषय नहीं बनता।

'रामचरितमानस' में भूतकालिक क्रिया के कुछ विचित्र प्रयोग

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

अवधी में 'ने' का प्रयोग न होने के कारण एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो मानक हिन्दी में नहीं है। तुलना कीजिए :—

मानक हिन्दी में	'रामचरितमानस' की भाषा में
(१) यद्यपि शिव ने बहुत बार कहा–	(१) "जदपि कहेउ सिव बार बहु" –(बाल० ५१।–)
(२) यद्यपि भवानी ने प्रकट न कहा–	(२) जद्यपि प्रगट न कहेउ भवानी।" –(बाल० ५१।५)
(३) धर्मधुरीण ने–माता से कहा–	(३) "धरमधुरीन कहेउ मातु सन।" –(अयो० ५३।५)
(४) किस अपराध से वन जाने को कहा गया	(४) "कहेउ जान वन केहि अपराधा।" –(अयो० ५४।७)
(५) यदि माता-पिता ने वन जाने के लिए कहा–	(५) "जौ पितु मातु कहेउ वन जाना।" –(अयो० ५६।२)

निम्नांकित क्रिया-रूप कर्मवाच्य में हैं

'मानस' की भाषा	संस्कृत	मानक हिन्दी
कहेउ (बाल० ५१।–)	कथितम्	कहा (कहा गया)
कहेउ (बाल० ५१।५)	कथितम्	,, ,,
धरेउ (बाल० ३५।१२)	धृतम् (अनुजः)	रखा (रखा गया)
राम अनुज लाएउ (लंका० ६१।२)	आनीतः	राम द्वारा अनुज लाया गया

कर्तृवाच्य के क्रिया-रूप भी इस प्रकार हैं

'मानस' की भाषा	संस्कृत	मानक हिन्दी
दिवसु गएउ् (अयो० ३११।–)	(१) दिवसः गतः	दिवस बीता।
दसानन गएउ् (अर० २७।१)	(२) दशाननः गतः	दशानन गया।
कपि नहि आएउ् (लंका० ६१।२)	(३)कपिः न आगतः	कपि न आया।
निषादु गएउ् (अयो० १६८।८)	(४) निषादः गतः	निषाद गया।
विषाद गएउ् (बाल० १२०।३)	(५) विषादः गतः	विषाद गया।
उछाहु भएउ् (बाल० ३६।१०)	(६) उत्साहः भूतः	उत्साह हुआ।

इन उदाहरणों से सिद्ध है कि 'मानस' में सामान्य भूतकालीन कुछ क्रियाएं कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य में समान रूप वाली मिलती हैं।

कर्तृवाच्य 'मानस' में	कर्मवाच्य 'मानस' में
(१) कहेउ् (२) धरेउ् (३) लाएउ	(१) गएउ् (२) आएउ्[1]
धातु + – एउ्	धातु + –एउ्

उत्तम पुरुष, पुंलिग, एकवचन की सामान्य भूतकालीन क्रिया-रूपों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। ये रूप 'मानस' में विशिष्ट और विचित्र हैं।

'मानस' में	मानक हिन्दी में
(१) मइं (दसरथ) गएउं "कवने अवसर का भउ्उ, गएउं नारिबिस्वास।" –(अयो० २६।–)	(१) मैं (दशरथ) गया। अर्थ–किस अवसर में क्या हुआ? मैं (दशरथ) नारी के विश्वास में मारा गया।
(२) मइं (कागभुसुंडि) गएउं, "बिहसत तुरत गएउं मुख माहीं। –(उत्तर० ८०।२)	(२) मैं (काकभुशुंडि) गया। अर्थ-हंसते हुए मुख में मैं (काक) तुरंत गया।
(३) महं (संपाती) भएउं, "बूढ़ भएउं न त करतेउं, कछुक सहाय तुम्हार।" –(किष्कि० २८।–)	(३) मैं (संपाती) हुआ। अर्थ–मैं (संपाती) बूढ़ा हुआ, नहीं तो तुम्हारी कुछ सहायता करता।
(४) मई (कागभुसुंडि)राख्उं, "नाथ जथामति भाष्उं राखेउं नहि कछु गोइ।" –(उत्तर० १२३।–)	(४) मैंने (काक ने) रखा। अर्थ–नाथ! मैंने (काक ने) यथामति कहा। कुछ छिपाकर नहीं रखा।

उपर्युक्त क्रियाओं में –ए् + उं प्रत्यय-पुंज है। इन्हें विभक्ति-प्रत्यय कह सकते हैं। इनमें –ए् पुंलिग, एकवचन को और –उं उत्तम पुरुष, भूतकाल को प्रकट करता है।

ये तिङ्न्त की ऐसी क्रियाएं हैं, जिसमें लिंग, वचन और पुरुष सूचक विभक्ति-प्रत्यय सन्निविष्ट हैं। संस्कृत की तिङ०न्त क्रियाओं में लिंगसूचक प्रत्यय नहीं होता। वे पुंलिंग और स्त्रीलिंग कर्ता के होने पर एक-सा रूप ही रखती है। जैसे—

रामः गच्छति (कर्ता पुंलिंग में)।
सीता गच्छति (कर्ता स्त्रीलिंग में)।
रामः अगच्छत् (कर्ता पुंलिंग में)।
सीता अगच्छत् (कर्ता स्त्रीलिंग में)
अहं (पुरुषः) गच्छामि
(उत्तम पुरुष में)
अहं (स्त्री) गच्छामि (उत्तमपुरुष में)

उपर्युक्त तिङ०न्त क्रियाओं में लिंगसूचक प्रत्यय नहीं है। 'किन्तु रामः गतः', 'सीता गता' में क्रियापद लिंगसूचक हैं, क्योंकि ये 'गतः' और 'गता' कृदन्त क्रियापद हैं—'गतः' पुंलिंग है 'गता' स्त्रीलिंग। इन पर कर्ता के लिंग का प्रभाव है।

इसी प्रकार हिन्दी में 'गया', 'गई', कृदन्त क्रियापद हैं—

(१) राम गया। (२) सीता गई। यहां 'गया', 'गयी' पर अपने-अपने कर्ता के लिंग का प्रभाव है। ये कर्तृवाच्य कृदन्त क्रियाएं हैं।

'मानस' में ऐसी क्रियाएं भी मिलती हैं कि यदि कर्ता उत्तम पुरुष, एकवचन, पुंलिंग है, तो भूतकालीन अकर्मक क्रिया 'गएउं' होगी और यदि कर्ता उत्तम पुरुष, एकवचन, स्त्रीलिंग है, तो भूतकालीन क्रिया 'गइउं' होगी। कुछ उदाहरण—

पुंलिंग में

कर्तृवाच्य क्रियाएं—

(१) गएउं = धातु + ए् + उं
"आजु लगे अरु जब तें भएउं। काहू
के गृह ग्राम न गएऊं॥"
—(बाल० १६७।४)

अर्थ—और जब से मैं तपस्वी) हुआ, तब से आज तक किसी के घर-गाँव में नहीं गया।

(२) भएउं = धातु + ए + उं
"बूढ़ भएउं न त करतेउं"
—(किष्कि० २८।—)

अर्थ—मैं (संपाती) बूढ़ा हुआ।

स्त्रीलिंग में

कर्तृवाच्य क्रियाएं—

(१) गइउं = धातु + इ + उं
"गइउं न संग न प्रान पठाए।"
—(अयो० १६५।५)

अर्थ—मैं (कौशल्या) संग न गई और न उनके साथ प्राण भेजे।

(२) भइउं = धातु + इ + उं
"भइउं सरोज बिपिन हिमराती"
—(अयो० १२।१)

अर्थ—मैं (सरस्वती) कमल वन को हिमरात्रि हुई।

(३) भएउं = धातु + ए् + उं
"तुरत भएउं[२] मैं काग तब"
–(उत्तर० ११२।–)
अर्थ—तब मैं (काकभुंशुंडि) तुरंत कौआ हुआ।

(३) भइउं = धातु + इ + उं
"मैं कृतकृत्य भइउं[३] अब"
–(उत्तर० १२९।–)
अर्थ–मैं (पार्वती) अब कृतकृत्य हुई।

सामान्य भूतकाल की उत्तम पुरुष, एक वचन, पुंलिग अकर्मक क्रियाएं 'मानस, में ए्उं प्रत्यायान्त हैं और सामान्य भूतकाल की उत्तमपुरुष, एकवचन, स्त्रीलिंग अकर्मक क्रियाएं–इउं प्रत्ययान्त हैं। 'मानस' की ये विचित्र क्रियाएं हैं, जिनमें पुरुष के साथ लिंग की सूचनाएं देने वाले प्रत्यय मिलते हैं। ये कर्तृवाच्य की क्रियाएं हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ये (गए्उं, भए्उं, गइउं, भइउं) अकर्मक क्रियाएँ हैं। सकर्मक क्रियापदों में भिन्न स्थितियाँ पायी जाती हैं। उनका विश्लेषण आगे किया गया है।

अब सकर्मक क्रियाओं में रूपात्मकता देखनी चाहिये। सकर्मक क्रियाएं ही कर्मवाच्य में परिवर्तित हो सकती हैं।

'कहना' क्रिया सकर्मक है। इसके निम्नांकित रूपों में देखना चाहिए कि कर्ता और कर्म के अनुसार क्रिया किस रूप में परिवर्तित होती है। 'मानस' के ये क्रिया-रूप भी विचित्र हैं

(१) 'कहे्उं' क्रियापद का प्रयोग—
धातु + ए्उं = क्रियापद
"तो फुर होउ जो कहेउं सब, भाषा भनिति प्रभाउ"
–(बाल० १५।–)
अर्थ—तो जो मैंने (तुलसी ने) भाषा-कविता का प्रभाव कहा, वह सब सत्य हो।

कर्ता	कर्म	क्रिया
उत्तम पुरुष, पुं० एक व०, (मैं तुलसी)	अन्य पुरुष, पुं०, एक व०, [प्रभाउ]	कहे्उं

यहां 'कहे्उं का–ए्उं प्रत्यय-पुंज कर्ता के पुरुष के अनुसार और कर्म के लिंग के अनुसार हैं अर्थात् –ए् प्रत्यय पुंलिग का सूचक है। कर्म 'प्रभाउ' पुंलिग का सूचक है, क्योंकि कर्म 'प्रभाउ' पुंलिग में है। –उं प्रत्यय उत्तम पुरुष, एक वचन का सूचक है, क्योंकि कर्ता 'में' उत्तम पुरुष एक वचन में है।

इसी प्रकार निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"कहे्उं परम पुनीत इतिहासा" [उत्तर० १२९।१]

अर्थ—मैंने [शंकर ने] परम पवित्र इतिहास कहा।

यहां भी कर्ता उत्तम पुरुष, पुंलिग, एक वचन में और कर्म पंलिग एकवचन में है।

अब 'कहिउं' की स्थिति देखनी चाहिए।

धातु + —इउं = क्रियापद।

"तोहि प्रान प्रिय राम, कहिउं कथा संसार हित।"

—(गीता प्रेस, अर० ५ (ख)। —)

अर्थ—तुझे राम प्राण प्रिय हैं। मैंने (अनसूया ने) संसार की भलाई के लिए कथा कही।

कर्ता	**कर्म**
उत्तम पुरुष, एक वचन, स्त्रीलिंग	अन्य पुरुष, एक वचन, स्त्रीलिंग
(मैं अनसूया)	(कथा)

यहाँ कर्म 'कथा' स्त्रीलिंग है। 'क्रिया' कहिउं स्त्रीलिंग है। लेकिन कर्ता 'अनसूया' भी स्त्रीलिंग है। ऐसी स्थिति में पता नहीं लगता कि क्रिया कर्ता के लिंग से प्रभावित है अथवा कर्म के लिंग से। आगे उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी।

शंकर पार्वती जी से उत्तरकाण्ड में कहते हैं कि हे पार्वती मैंने सब सुन्दर कथा कही।

"उमा कहिउं सब कथा सुहाई।" (गीता प्रेस, उत्तर० ५२ (क)।६)

धातु + इउं = क्रियापद स्त्रीलिंग

कर्ता	**कर्म**
उत्तम पुरुष, एक वचन, पुंलिग	अन्य पुरुष, एक वचन, स्त्रीलिंग
(मैं शंकर)	(कथा)

अरण्यकाण्ड के दोहा ५ (ख) में कर्ता स्त्रीलिंग है, तब भी क्रिया 'कहिउं' है और उत्तरकाण्ड (५२(क)।६) की अर्द्धाली में कर्ता पुंलिग है, तब भी क्रिया 'कहिउं' है। अतः सिद्ध है कि क्रिया ने कर्ता के लिंग का प्रभाव तो स्वीकर नहीं किया। कर्ता के वचन को तो स्वीकारा है।

हां, अरण्य (दो० ५ ख) में कर्म 'कथा' स्त्रीलिंग है और उत्तर (५२ क।६) में भी कर्म 'कथा' स्त्रीलिंग है, इसलिए क्रियाएं दोनों स्थलों पर 'कहिउं' हैं। 'कहिउं' ने लिंग में कर्म के प्रभाव को स्त्रीकार किया है। 'मानस' के 'धरेउं' (उत्तर० १०६।-) क्रियापद पर भी ध्यान देना चाहिए। काक भुशुंडि गरुड़ से कहते हैं कि मैंने इस प्रकार बहुत-से शरीर धारण किये। "एहि विधि धरेउं विविध तनु"—(उत्तर० १०६। —) यहाँ कर्म 'तनु' पुंलिग बहुवचन है और कर्ता उत्तम पुरुष में पुंलिग एकवचन है, फिर भी क्रिया 'धरेउं' एकवचन है। अतः सिद्ध होता है कि यह क्रिया कर्म के वचन को नहीं स्वीकारती। कर्ता का वचन स्वीकारती है।

इससे सिद्ध है 'मानस' में कुछ सकर्मक क्रियाओं के सामान्य भूतकाल में रूप पुरुष और वचन में कर्ता के अनुसार और लिंग में कर्म के अनुसार आये हैं। यदि कर्म बहुवचन में भी आया है, तो भी क्रिया के रूप पर इसका प्रभाव नहीं। अर्थात् ऐसी भूतकालीन सकर्मक क्रियाएँ पुरुष और वचन में कर्ता के अनुसार तथा लिंग में कर्म के अनुसार हैं।

'मानस' में क्रियापदों में ऐसे प्रयोग मार्के के हैं। इन्हें वाच्य की दृष्टि से नया नाम देना पड़ेगा। इनमें तिङन्त और कृदन्त की स्थिति तथा कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य की स्थिति एक साथ घुल-मिलकर अपना काम कर रही है।

संदर्भ-संकेत

(१) 'गउ्उ' और 'आए्उ' क्रियाएँ 'मानस' में संस्कृत के भाँति सकर्मक भी हैं और मानक हिन्दी की भाँति अकर्मक भी। (२) मिलाइए "कहे्हु" किष्किं० ७।२३)=तुमने (सुग्रीव ने) कहा। (पुं०) (३) मिलाइए "कहिहु" (अयो० २२।४)=तुखने (कैंकेयी ने) कहा। 'कहे्हु' (=तुम कहना) आज्ञार्थ में भविष्य सूचक भी है (अयो० १५१।६)। (स्त्री०)

पदमावत में प्रयुक्त कुछ शब्द : सम्यक् विवेचन

डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त

१. ओरगा

(१) छतिस लाख **ओरगन्ह** असवारा । ४५७।३

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'ओरगन्ह असवारा' का अर्थ 'तुर्की सवार' किया है। डॉ० अग्रवाल की कल्पना है 'उइगर' नामक मध्येशिया की तुर्क जाति के नाम से यह शब्द (ओरगा, बहु० ओरगन्ह) सब तुर्कों के लिए प्रयुक्त होने लगा ।

(२) **ओरगा** केरि कठिन है जाता । ५२४।६

डॉ० अग्रवाल के अनुसार 'संदर्भ से इसका अर्थ है—ओरगा की जाति बड़ी कठिन होती है, वे युद्ध में निश्चयपूर्वक कब्जा करते हैं . . . यह उक्ति अलाउद्दीन के सैनिकों के लिए है। तुर्क का बच्चा बड़ा कठोर होता है। जाता सं० जातक=बच्चा ।'

इस प्रकार उपर्युक्त स्थलों पर डॉ० अग्रवाल 'ओरगा' को तुर्क के अर्थ में समझते हैं। पर संदर्भ से दोनों ही स्थलों पर 'ओरगा' सं० अवलग्न=सेवक के ही अर्थ में है।

'जाता' बच्चे के आशय में नहीं जाति (वर्ग) के अर्थ में है। सेवकधर्म बड़ा कठिन है, यह है कथ्य कवि की इस पंक्ति का—'ओरगा केरि कठिन है जाता ।'

(३) जाँवत अहै सकल **ओरगाना** । १२८।२

यहाँ डॉ० अग्रवाल 'ओरगाना' का अर्थ प्रधान सामंत करते हैं। इसे वे अरबी 'रुक्न' का बहुवचन मानते हैं (रुक्न=खंभा)।

पर यहाँ ओरगाना सेवकों अथवा राजा के आश्रितों के अर्थ में ही है।

(४) **सबै छत्रपति ओरगन्ह** राजा । २६।३

डॉ० अग्रवाल यहाँ 'ओरगन्ह' का अर्थ अवरंग=तख्त, सिंहासन करते हैं और उनकी टीका है 'सब छत्रपतियों के सिंहासन पर वही अधिपति था ।'

पर यहाँ भी 'ओरगन्ह' सेवकगण के ही छंद में है—कवि का कथ्य है जितने भी छत्रपति थे वे सब राजा के आश्रित या सेवक थे।

(५) राघौ चेतनि चेतनि महा। आइ ओरँगि राजा के रहा। ४४६।१

डॉ० अग्रवाल की टीका है--'राघव चेतन बड़ा बुद्धिमान् था। वह चित्तौड़ में आकर राजा रतन्सेन के सिंहासन के निकट पहुँचा।'

यहाँ भी 'औरंग' को 'अवरंग'=तख़्त से संबंधित समझकर इसका अर्थ सिंहासन किया गया है।

पर 'ओरंग' सेवक के ही आशय में है--राघव आकर राजा के यहाँ सेवक के रूप में रहा।

इस प्रकार पाँचों स्थलों पर, शब्द की जटिलता से, टीका में भूल हुई है।

'ओरगा' शब्द की परंपरा इस प्रकार है--

१. बढ़े सो **ओलग्गी** बजी धारधारं। पृथ्वीराज रासउ ११।१२।५

ओलगी—सं० अवलग्न=सेवक।

२. लाख बिचारिअ वाणि जू चालइ

बार लाख **उलगाणा**। कान्हड़दे प्रबंध २।२९

'उलगाणा'—'ओलग्गी', ओलग अथवा 'ओरगा' का बहुवचन है।

३. कबीर ने '**बोलगन**' इसी भाव में प्रयुक्त किया है :

चलि मेरी सखी हो **बोलगन** राम राया।

जब तब काल बिनासे लो काया॥ पद मारू ३।१

राम राजा है और सब उसके सेवक।

४. 'चाँदायन' में 'ओरगावन' तथा 'ओरगायहु' =सेवा करो, प्रयुक्त है—

(अ) पहिले जाइ महर **ओरगायहु**। ११२

[अर्थात् महर की सेवा में जाकर लगो।]

(आ) अउर नखत **ओरगावन**, आछहि पँवरि दुवारि।

चाँद चलत नर मोहहिं जगत भएउ उजियार। ३२

कालिदास ने सं० अवलग्न का प्रयोग आश्रित के अर्थ में किया है।

भारतीय साहित्य समृद्ध परंपरा से सम्पन्न है। इसलिए किसी भी शब्द के सम्यक् अर्थ के लिए परंपरा की खोज अपेक्षित है। शब्द का इतिहास उसके अर्थ पर यथेष्ट प्रकाश डालता है। हमारा मध्यकालीन शब्दभंडार इस दृष्टि से अनुशीलन की अपेक्षा रखता है। सं० अवलग्न का प्राकृत रूप ओलग्गा, ओलग्गि। पाली में 'ओलग्गेति' क्रिया है। सं० लग् धातु (लगति) का अर्थ है किसी के साथ जुटना। 'अवलग्न' का अर्थ हुआ जुटा हुआ, आश्रित।

२. औराहीं

जोगिन्ह बहुतै छंद औराहीं। बुंद सेवातिहि जैस पराहीं॥

परै समुंद्र खार जल ओहीं। परै सीप मुँह मोती होहीं॥ ३१०

डॉ० अग्रवाल का अर्थ है—'जोगियों में बहुत से छल-छंद भरे होते हैं। जैसे स्वाति नक्षत्र से बूंदें गिरती हैं—कोई बूंद समुद्र में गिरती है तो जल खारा हो जाता है, कोई सीप के मुँह में गिरती है तो मोती उत्पन्न होते हैं।''

उपर्युक्त व्याख्या में 'औराहीं' का शब्दार्थ नहीं स्पष्ट हुआ है। टिप्पणी में लिखते हैं: ''ओराहीं—भगवानदीन जी, अउराहीं = आते हैं, विचार में आते हैं। शुक्ल जी, न ओराहीं = नहीं चुभते। लक्ष्मीधर, ओराहीं = होना। शब्दसागर, ओराना - अंत तक पहुँचना, समाप्त होना। व्युत्पत्ति अनिश्चित पर उपराहीं से सम्भव है जिसका अर्थ होगा ऊपर आना। जोगियों में बहुत सी चाल की बातें उतराती हैं।''

पर 'औराहीं' उपराहीं नहीं है। प्रसंग में 'औराहीं' का आशय है निष्णात होना—जोगी अनेक छंद (कपट भाव) वाले होते हैं। उन्हें कोई समझ नहीं सकता—जायसी इसी प्रकरण में कहते हैं 'जोगी-भँवर ये दोनों स्थिर नहीं होते, ये किसी के होते नहीं, अंतकाल में दोनों बिसवासी (विश्वासघाती) होते हैं। कवि का कथन है कि जोगियों के भाव अनेक हैं जैसे स्वाति का जल समुद्र में कुछ और सीप में पड़ने से कुछ और इसी प्रकार जोगियों के अनेक प्रपंच हैं। अर्थात् जोगियों के मर्म को कोई समझ नहीं सकता। वे छंदी होते हैं।

औराहीं (औराई) का प्रयोग अन्य ग्रंथ में इस प्रकार है—

तौ पुनि कुंवर सरो **औराई**। साधन नांउ सिस्टि जेत आई। मधु मालती ५८

यहाँ 'औराई' निष्णात होने के ही आशय में है—कुँवर ने अस्त्र विद्या में योग्यता प्राप्त की।

'मधुमालती' में 'औरावा'-'औरावै' भी इसी अर्थ में है—

पंडित अरु कुँवरहिं **औरावा**। एक वचन बहु अरथ पढ़ावा।
जोग कोक कुंवरहिं **औरावं**। चित्र उरेहि अरथ समुझावै॥
थोरेइ दिन भा कुंवर सयाना। बेद भेद बहु भाव बखाना।
जोग अमर **औराव** सतभावा। पिंगल कोक **कंठ औरावा**॥ ५७

अतः 'औराहीं' 'औराई' 'औरावा' एक ही है—जोगी अनेक शास्त्रों में प्रवीण होते हैं—उनका एक-एक भाव, शास्त्र की भाँति, अनेक अर्थ से भरा होता है जिसे सामान्य व्यक्ति समझने में असमर्थ हैं—इसलिए उनसे बचकर रहना चाहिए। व्यंग्य से यहाँ "छंद", 'छल' ठगविद्या का समानार्थी है। 'एहि छंद ठगविद्या डहँका राजा भोज।' ४४८

औराहीं, औराई औरावा इन सभी का मूल 'आरव, 'आराव' है। सं० आर जोर-जोर से चिल्लाने के अर्थ में है। रामायण में वानरों के शोर गुल्ल को 'आरव' कहा गया है—'वानराश्चक्रुरारवं'।

संस्कृत वाङ्मय को ज़ोर-ज़ोर से कंठस्थ करने की परिपाटी रही है इस प्रकार ज़ोर-ज़ोर ध्वनि करके याद करना 'आरव' हुआ। नामदेव ने कहा है—

आरो मांडि राम रटि लेहूँ।

राम का नाम ज़ोर-ज़ोर से रटो—। जोग, अमर कोष, ज्योतिष, व्याकरण सभी को रटाया जाता था। सारी विद्या कंठस्थ होनी चाहिए। ऐसा निष्णात पंडित-जोगी ही 'बेद भेद बहु भाउ बखाना।'

३: पेमतंत ; राजा

कवि सो **पेमतंत** कवि **राजा**।

झूंठ साच जेहि कहत न साजा ॥ ४४६।४

डॉ० अग्रवाल ने 'कविराजा' को एक पद मानकर उसका अर्थ कविराज (महाकवि) किया है। उनकी व्याख्या है "महाकवि वही है जो प्रेमतत्त्व के अनुसार काव्य रचना करे और जिसे झूठ-सच कहने में असक्ति न हो।"

मध्यकालीन हिन्दी काव्यों में 'तंत' सं० तंत्र (शास्त्र) तथा सं० तत्त्व से विकसित है। कौटिल्य अर्थ शास्त्र में 'तंत्र' शास्त्र के आशय में है 'तंत्रयुक्ति' शास्त्र को समझने की युक्ति के अर्थ में है। म० मालती १७, २३८ में तंत तत्त्व से संबंधित है।

राजा चाहा के अर्थ में है। सं० रज् = चाहना, रज्यते। पा० रज्जति प्रा० रज्जइ। प्रा० रज्ज = अनुरक्त।

पूरी पंक्ति का भावार्थ, अतः, इस प्रकार है—"कवि वही है जो प्रेम की कविता में रुचि रखे। उसे झूठ-सच कहते शोभा नहीं देता।"

डॉ० गुप्त ने 'राजा' का अर्थ 'चमका' किया है—सं० राज् = चमकना। परन्तु यहाँ 'राजा' अनुरक्त (प्रा० रज्ज) के आशय में है।

४. बसिवारू (बिसवारू), सं० वेसवार

काटे मंछ मेलि दधि धोए। औ पखारि चहुँ बार निचोए।

करुए तेल कीन्ह **बसिवारू**। मेंथी कर तेहि दीन्ह धुँगारू ॥ ५४७

डॉ० अग्रवाल 'करुए तेल कीन्ह बसिवारू' का अर्थ करते हैं "करुए तेल में उन्हें छौंका गया।'

सं० वेसवार, वेशवार के दो अर्थ हैं (१) उपस्कर = मसाला, (२) एक प्रकार का मांस व्यंजन।

प्रकरण मांस-व्यंजनों का है—मांस के समोसे और मसौरा (कबाब) पहले आ चुका है, अब बसिवार (वेसवार) के बनाने का वर्णन है। सुश्रुत संहिता सूत्र स्थान ४६।२५ कृतान्नवर्ग में 'वेसवार' का वर्णन है—

'मांसे निरस्थि सुस्विन्नं पुनर्दृषदि चूर्णितम् ।
पिप्पली शुंठि मरिच गुड सर्पिः समन्वितम् ।
एकत्र पाचयेत्सम्यग् **वेसबार** इति स्मृतिः ।।
वेसवारो गुरु स्निग्धो बल्यो वातरुजापह ।।'

[अस्थि निकाला मांस जोश देकर फिर पत्थर पर चूर्ण किया गया हो और पीपल-सोंठ-मिरच--गुड और घी मिलाकर इकट्ठा पकाया जाय तो वह वेसवार है । वेसवार भारी, स्निग्ध, बल कारक और वात रोग नाशक है ।]

'चरक' सूत्रस्थान २७।२६४ में बेशवारो गुरु : स्निग्ध : **बलोपचयवर्धनः** है

जायसी ने इसकी प्रशंसा में कहा है—

'बूढ़ खाइ तौ होइ नवजोवन सौ मेहरी लै ऊड़ ।'

वेसवार मांस व्यंजन में खटाई पड़ती है—जायसी ने 'आँब चीरि तेहि मांह उतारे ।' का निर्देश किया है । चाँदायन में करौंदा, इमली डालने का वर्णन है "कुंकुम मेलि किएउ **बिसवारू** । दारचो करवंछ अंबिली चारू ।" सुश्रुत में मांस साधित करने में गोरस, धान्याम्ल, फलाम्ल के प्रयोग का विधान है ।

५. मंडन

भीजी अलक चुए कुच **मंडन** । भीजे भंवर कँवल सिर फुंदन । ६२०।४

डॉ॰ अग्रवाल पहली अर्द्धाली का पाठ 'भीजी अलक चुई कटिमंडन' स्वीकारते हैं, शुक्ल जी ने 'कटिमंडन' का अर्थ कटि का अलंकरण (करधनी) किया है, वही अग्रवाल जी स्वीकारते हैं । परन्तु 'कटिमंडन' करधनी के अर्थ में अन्यत्र मेरी जानकारी में नहीं है । 'कटिमंडन' में मंडन का अर्थ आभूषण किया गया है । 'चुइ कटि मंडन' का अर्थ उन्होंने "(आँसुओं से) कटि की शोभावर्धक करधनी चू पड़ी ।' ऐसा किया है ।

इस व्याख्या में यह बात असंगत लगती है कि आँसुओं से करधनी चू जाय । दूसरी बात यह कि कवि अलक भीजने के बाद सीधे कटिमंडन की ओर क्यों आकृष्ट होता जब कि वक्षस्थल प्रमुख रूप से भीजता है—आँचर भीजता है । वस्तुतः प्रसंग से डॉ॰ गुप्तजी का पाठ 'चुए कुच मंडन' ही उपयुक्त है । कवि इसके पूर्व चोली के भीजने का वर्णन करता है—

भीजे हार चीर हिय चोली । रही अछूत कंत नहिं खोली ।।

चोली भीज गई तो कुच का भीजना स्वाभाविक है । बादल जब पत्नी के अनुनय-विनय पर युद्ध से नहीं मुड़ता है तो उसकी विरहाग्नि प्रदीप्त हो उठती है, अश्रु की धारा चल पड़ती है; फलस्वरूप उसके सभी श्रृंगार नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं—

'सबै सिंगार भीज भुइं चुआ । छार मिलाइ कंत नहिं छुवा ।।

कुच का श्रृंगार (प्रसाधन) सर्वोपरि माना जाता था—श्रृंगार-वर्णन में यह परंपरा

अत्यन्त प्राचीन है। कालिदास 'उन्नत कुचों' पर ठहरे बिना आगे बढ़ते ही न थे—वर्षा की पहली बूँदों का वर्णन भी वे बिना नारी के सौंदर्य का स्पर्श किये नहीं कर सके—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपात चूर्णिता।
वलीषु तस्याः स्खलिता प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥ कु० सं० ५।२४

[वर्षा की पहली बूँदें उसकी पलकों में क्षण मात्र ठहरीं, फिर वे होठों से टकरायीं, उत्सेध (उठे हुए) स्तनों पर टपकने से इधर-उधर छिटक गयीं फिर त्रिवली में गिर कर इधर-उधर घूमती हुई अंत में नाभि प्रदेश में प्रविष्ट हुईं।]

डॉ० गुप्त ने 'मण्डन' का अर्थ आभूषण किया है। पर मंडन यहाँ आभूषण भाव में नहीं। उपर्युक्त प्रसंग में जायसी अश्रुधार से विनष्ट होने वाले प्रसाधनों का वर्णन करते हैं—बादल-पत्नी ने जिस अभिलाषा से अपने को सुसज्जित किया था वह क्षणमात्र में भ्रष्ट हो गया—

'चुइ चुइ काजर आँचर भीजा, तबहुँ न पिय कर रोवँ पसीजा।'

आँचर भीजा, चोली भीजी, उन्नत उरोजों पर किया गया मंडन (प्रतिकर्म) बह गया। अभिधानचिन्तामणि में मण्डन, प्रसाधन, 'प्रतिकर्म' समानार्थी हैं। स्तन कपोलादि पर पत्न मकरिकादि की रचना करना मण्डन है। 'भीजे भँवर कँवल सिर फुंदन' में 'कँवल' मुख के प्रतीकरूप में है। डॉ० अग्रवाल ने 'कँवल' का अर्थ 'कमलरूपी स्तन' किया है जो पूरे वर्णन को देखते हुए उपयुक्त नहीं है। कँवल मुख का परम्परागत उपमान है। अस्तु, 'कुच मंडन' ही पाठ समीचीन है। कुच मंडन की परंपरा रामायण से मिलती है : कुचों पर रक्तचंदन का अनुलेपन होता था। कादंबरी में स्तनों पर पत्नाकार रचना का वर्णन है। गुजराती में 'माँडण' (स्त्रियों के कपोलादि पर किया गया प्रसाधन) अब भी प्रयुक्त होता है।

६. **संधान** = अँचार [सं० संधान = कांजी, मदिरा, अंचार आदि अम्लद्रव्य।
सं० संधा = मिलाना।]

गुजराती में भी संधान [गु० संधाणु] अँचार के आशय में है। सिंधी में 'संधाणों' है। सूरसागर, पद्मावत में 'संधान' अँचार के अर्थ में ही है—

तुमको भावत पुरी **संधानो**। सूरसागर
पुनि **संधान** आवत बहु साँधे। पद० २८४।६
पुनि **संधान** बहु आनहिं परसहिं बूकहिं बूक। पद० ५६२।८

'संधान' आयुर्वेद का शब्द है। 'संधान' के अन्तर्गत अँचार, मदिरा, आसव, कांजिक सभी हैं। क्योंकि इनमें कितने ही द्रव्य संधित (मिले हुए) हैं। संधान अम्लप्रधान मिश्रण है। 'संधान' पर्याय है समस्त सुरावाची शब्दों का। अमरकोष में 'संधान—अभिषव—आसव' पर्यायवाची है।

'संधानी' भी यही अर्थ रखता है। 'हलायुध कोश' में 'संधानी-कांजिक और शुक्त' पर्याय हैं।

'संधिका' भी इसी अर्थ में है। 'पद्मावत' में एक स्थल पर 'संधान' इस प्रकार प्रयुक्त है—

और दहिउ के मोरंड बांधे। औ संधान बहुत तिन्ह सांधे। ५५०।५

डॉ० वासुदेवशरण जी की टीका है—"फिर दही के मोरंडे बाँधे गए और बहुत प्रकार के अँचारों के मसाले उनमें मिलाए गए।" पर भाव यह है : अनेक प्रकार से सांधे (तैयार किए हुए) संधान परसे गए। 'संधान' में तेल, नमक, सोंठ, मर्चि आदि मिलाए जाते हैं। 'मोरंड' में संधान (मसाला) मिलाए नहीं गए जैसा कि टीकाकार अर्थ करता है।

७. ओप = प्रकाश, ज्वाला। सं० अप्पित्तं (अग्नि)।

(१) ससि औ सूर जो निरमल तेहि लिलाट की **ओप**।
निसिदिन चलहिं न सरबरि पावहिं तपि तपि होंहि अलोप। ४७२.

कवि पद्मावती के रूप का वर्णन करते हुए कहता है कि पद्मावती के ललाट की जो आभा-ज्योति है वही ससि और सूर ने प्राप्त की है। चंद्र-सूर निरंतर तपते हैं पर उसकी बराबरी नहीं कर पाते हैं—(हीन भावना से) लुप्त हो जाते हैं।

सं० अप्पित्तं (= अग्नि) से ओप का संबंध है। **'ओपना'** जलने के अर्थ में आज भी अवधी-भोजपुरी में है। जब दाल अधिक आँच से जराहिन आती है तो उसे **'ओप जाना'** कहा जाता है—लवकी या जली दाल **'ओपहिन'** आती है। अत: 'ओपना' जलने के अर्थ में है। 'ओपना' का विकसित अर्थ चमकना भी है। 'ओपाना' चमकाने के अर्थ में है। **'ओपनी'** यशब या अकीक पत्थर का टुकड़ा है जिससे रगड़कर चित्र पर का सोना-चाँदी चमकाते हैं। देशी नाममाला १।१४८ में 'ओप्पा' सान आदि पर मणि का घर्षण है—घर्षण चमक पैदा करता है। 'ओपित' चमकीले के आशय में है।

डॉ० अग्रवाल की व्याख्या है—सूर्य और चंद्र मानों सान पर चढ़े हुए आकाश में घूम रहे हैं, फिर भी पद्मावती के ललाट रूपी मणि की तुलना नहीं कर पाते। . . . . जब वे अदृश्य होते हैं तब मानों खराद पर चढ़ने के लिए चले जाते हैं। वहाँ से निकलकर फिर अपना प्रकाश दिखाते हैं।'

अग्रवालजी ने देशी नाममाला में दिए गए 'ओप्पा' के आधार पर ऐसा अर्थ किया है, वस्तुतः यहाँ ओप का सीधा-स्पष्ट अर्थ चमक है, सान पर चढ़ने की कल्पना निष्प्रयोजन है।

(२) हुलसा बदन **ओप** रबि आई। हुलसि हिया कंचुकि न समाई। २८०

पद्मावती का मुख सुरुज (रत्नसेन) को देखते ही प्रकाशित और उल्लसित हो उठा। जायसी का कथन है कि चाँद (पद्मावती) सूर्य के प्रकाश से ज्योति ग्रहण करता है। रत्नसेन सूरज है और पद्मावती चाँद। सूर्य का प्रकाश मिलते ही पद्मावती का मुख आलोकित हो उठा। पद्मावती में कामभाव का उद्दीपन है।

डॉ अग्रवाल की व्याख्या है 'सूर्य की चमक आने से उसका मुख प्रसन्न हो गया।' वस्तुतः सूर्य की ज्वाला से पद्मावती का बदन ओपित (प्रकाशित) हो गया।

(३) हीरामनि जौं कहीं रसबाता। सुनि के रतन पदारथ राता।
जस सुरुज देखत होइ **ओपा**। तस भा बिरह काम दल कोपा। १७६

सुआ से रत्नसेन की प्रेमवार्ता सुनकर पदारथ (पद्मावती) का मन प्रीति रस में निमग्न हो गया। सूरज को देखते ही (उसका समाचार सुनते ही) पद्मावती ओपित हो गई और वह काम के आक्रमण से अभिभूत हो गई—विरह ज्वाला ने तपाना आरम्भ कर दिया। यहाँ ओपने और विरह-ज्वाला में साम्य है।

डॉ० अग्रवाल की व्याख्या है, "जैसे सूर्य के दर्शन से हीरे में विशेष चमक उठती है, वैसे ही रत्नसेन का आगमन सुन उसमें विरह तीव्र हो गया और उस पर काम का आक्रमण हुआ। (सूर्य की किरणें पड़ने से हीरे का अन्तःकरण दीप्त हो उठता है उसमें से भी किरणें छूटने लगती हैं; ऐसे ही पद्मावती का मन चंचल हो गया)।"

८. **गहबर, गहबरा**—रुदन, पीड़ा से आह भरना। सं० गह्वरं।

(१) ततखन रतनसेनि **गहबरा**। छाड़ि डफार पाउ लै परा। २१३

डॉ० अग्रवाल की व्याख्या है 'उसी क्षण रतनसेन उद्विग्न हो उठा और धाड़ मारकर शिव के पाँव पकड़कर गिर पड़ा।' टिप्पणी में 'गहबरा' का अर्थ दिया गया है 'व्याकुल हो गया, घबरा गया, हड़बड़ा गया।' व्युत्पत्ति नहीं दी गई है।

'गहबरा' सं० गह्वर से व्युत्पन्न है। गह्वर का अर्थ है रुदन। अभिधान चिन्तामणि के अनुसार गद्गद कण्ठ से रोने का नाम 'गह्वरम्' है। उपर्युक्त संदर्भ में 'गहबरा' का अर्थ है रो पड़ा अथवा हृदय भर आया।

डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने 'गहबरा' का अर्थ 'हर्षातिरेक से आवृत' किया है जो अशुद्ध है। डॉ० गुप्त 'गह'—को प्रा० गहगह = हर्ष से भर जाना से संबंधित करते हैं परन्तु 'गहबरा' का सीधा सम्बन्ध सं० गह्वर से है; इसका प्राकृत रूप 'गहर' है।

(२) गवनाचार पदुमावति सुना। उठा धक्कि जिय औ सिर धुना।
गहबर नैन आए भरि आँसू। छाँड़ब यह सिंघल कबिलासू। ३७८

डॉ० अग्रवाल की व्याख्या है 'व्याकुलता से नेत्रों में आँसू भर आए।' वस्तुतः 'गहबर' मात्र व्याकुलता या घबराहट नहीं इसके साथ मानसिक दुःख अथवा संताप है, जिसका फल रुदन है। म० मा० में 'माता पिता सुनत **गहभरे**' है।

डॉ० गुप्त ने 'गहबर नैन' को एक साथ लेकर इसका अर्थ 'भावाकुल नेत्र' किया है।

९. **छतिवनु**—छत, सं० छद्मन = छाजन।

'कुमुदिन कहु जोबन तेहि पाहां। जो आछहि पिय की सुख छाहां।
जाकर **छतिवनु** बाहर छावा। सो उजार घर को रे बसावा। ५६२

डॉ० अग्रवाल ने 'छतिवनु' को सं० सप्तपर्ण [वृक्ष] से सम्बन्धित मानकर इसका अर्थ किया है—'जिसके बाहर छतिवन का वृक्ष छाया हुआ है ऐसे उजाड़ घर को कौन बसाएगा ?'

टिप्पणी में ये कहते हैं 'छतिवन का पेड़ अति उग्र गंध के कारण घर के पास नहीं लगाया जाता . . . . लोक में मान्यता है कि इसका लगाना शुभ नहीं है । . . . . छावा-छाना = वितान की तरह फैलना ।''

हिन्दी में सप्तपर्ण वृक्ष को छतिवन कहा जाता है। इसी लिए डॉ० अग्रवाल का ध्यान उधर आर्कर्षित हुआ पर प्रसंग से स्पष्ट है कि कुमुदनी दूती पद्मावती को फुसला रही है। उसके इस छद्म को पद्मावती समझकर कहती है 'जिसका प्रियतम पास नहीं है उससे यौवन सुख की बात करना व्यर्थ है—जिसके घर पर छत नहीं है ऐसे उजड़े घर को कौन बसा सकता है ? यहाँ 'छतिवनु' छत के अर्थ में ही है। जो घर छत रहित है वह उजाड़ है; ध्वनि हैं जिसका पति घर पर नहीं हैं उस नारी का जीवन पतझड़ है। राजा (पति) गृहस्थीरूपी घर का छत है। पति के प्रभाव में नारी का न महल है न सिंहासन, न पलंग। अगली पंक्तियों में यही भाव और स्पष्ट है—

अहा जो राजा रैनि अंजोरा। केहि क सिंघासन केहि क हिंडोरा।
को पालक सोवै को माढ़ी। सोवनिहार परा बंदि गाढ़ी।
जेहिदिन गा घर भा अँधियारा। सब सिंहासन लै साथ सिधारा।
कया बेलि तब जानौं जामी। सींचनहार आव घर स्वामी।

१० **परिहेलना** =अवहेलना [हेल् = अवज्ञा—तिरस्कार करना]

'मैं पिय प्रीति भरोसे गरब कीन्ह जियमाहँ।
तेहि रिसि, हौं परहेलिउँ निगड़ रोस किअ नाँह।' ८९

डॉ० अग्रवाल की टीका है, "मैंने पति की प्रीति के भरोसे अपने जी में गर्व किया था। उस ईर्ष्या के कारण मुझे तिरस्कृत होना पड़ा। स्वामी ने मुझ पर अत्यधिक क्रोध किया है।"

सं० अवहेलं, अवहेलनं, अवहेलना तथा 'परिहेलन' अवज्ञा–अनादर–उपेक्षा के आशय में है और अवहेलित-परिहेलित अनादृत के अर्थ में। यहाँ नागमती के मान अथवा ऐंठने की बात है [रानी उतर मान सौं दीन्हा ८७] इसी मान भाव से उसने राजा की आज्ञा का उल्लंघन—अनादर किया; उसे गर्व था कि राजा उसका है और वह कभी भी रूठेगा नहीं पर जब वह राजा से कहती है कि 'सुआ को बिल्ली उठा ले गई' तो राजा को रोष आ गया, उसने कहा 'कंत की आज्ञा मेटकर किसे कष्ट न उठाना पड़ा—आएसु मेटि कंतकर काकर भा न अकाज।' नागमती ने एक तो अवज्ञा की थी दूसरे जब राजा ने पंडित सुग्गे का गुणगान किया तब उसने रोष में उसका विरोध भी किया था—'माथे नहिं बैसारिअ सठहि सुआ जौं लोन।' ८७। इसके उत्तर में रोष करके राजा ने कहा 'या तो सुग्गे का प्राण लौटाओ अथवा उसके साथ सती हो जाओ।' रानी नागमती उक्त समस्त

प्रसंग को स्मरण कर पश्चात्ताप कर रही है—प्रिय की प्रीति पर उसने गर्व किया, आसक्ति के कारण उसे क्रोध आया, क्रोध में उसने पति की अवज्ञा की; अवज्ञा—तिरस्कार के फलस्वरूप पति रूठ गया।

अग्रवाल जी की व्याख्या है 'उस ईर्ष्या के कारण मुझे तिरस्कृत होना पड़ा पर यहाँ नागमती का कथ्य है कि उस रिसि [क्रोध] के कारण ही उसने अपने पति की परिहेलना की। नागमती अपने को 'परिहेलित' [तिरस्कृत] नहीं कह रही है प्रत्युत 'हौं परिहेलिउँ' [मैंने तिरस्कार किया]।

गर्व और रिस किस प्रकार अनर्थ कराने में सहायक होते हैं यही कवि बल देकर कहना चाहता है। उस रिस का परिणाम हुआ कि नागमती राजा के मन से उतर गई। अगली पंक्तियों में धाइ [धाय] 'रिसि' की बुराई समझाती हुई नागमती से कहती है—

—रिसि आपुहि, बुधि औरहि खाई।
मैं जो कहा रिसि करहु न बाला। को न गएउ एहि रिस कर घाला।
तूं रिस करी न देखसि आगू। रिसि महँ काकर भएउ सोहागू। ९०

अस्तु, रिसि यहाँ क्रोध के अर्थ में है और 'हौं परिहेलिउँ' का अर्थ है 'उस रिसि में मैंने पति की अवज्ञा की।'

हिं० रिस, रिसि सं० रुष्, रूषा, रुष्टिः [धातुरुष्, रुष्यति] तथा हि० रोस सं० रोषः [रुष्-घञ्] से सम्बन्धित हैं।

धाइ नागमती को समझाती है कि पति के ऊपर कभी 'रिसि' नहीं करनी चाहिए उसके रस [प्रेम] से ही तो जीवन है—

जेहि की रिसि मरिए, रस जीजै, सो रस तजि रिसि कबहुँ न कीजै। ९०।५

'रिस' जीवन को नष्ट करता है, खा जाता है और रस [प्रेम-रस] जीवन को पल्लवित करता है।

११ महरा—सं० महामात्र = मुख्यमंत्री, प्रधान 'महामात्राः प्रधानानि' अमरकोश

महरा कै सौंपौं महराई। ३९२

डॉ० अग्रवाल की व्याख्या है और तुम्हें अपना प्रधान नाविक बनाकर उचित पुरस्कार सम्मान समर्पित करूँगा।

टिप्पणी में उन्होंने लिखा है—'महरा-प्रधान अधिकारी। सं० महाराज। महाराज से महरा का सम्बन्ध ज्ञात होता है।'

पर महरा सं० 'महामात्र' से विकसित है। अमरकोश में 'महामात्राः प्रधानानि' है अर्थात् राज्य के प्रधान को महामात्र भी कहा जाता था। 'महामात्र' को मुख्यमंत्री कहा जा सकता है।

राजा रत्नसेन समुद्र में उथल-पुथल मचने पर घबड़ाते हैं तब वे खेनेवाले [राक्षस रूपधारी केवट] को प्रलोभन देते हुए कहते हैं कि पहुँचने पर तुम्हें महामंत्रित्व पद दे दूँगा।

अर्थात् तुम्हें राज्य का प्रधान बना दिया जायगा। मंत्री, पुरोहित और सेनापति को प्रधान कहा जाता था। चाँदायन में 'पहिले जाइ महर ओरगायहु।' १२२ है।

(२) दसौ दाउ कै गा जो दसहरा। पलटा सोइ **नाउँ लै महरा**। ४२४

नागमती को राजा के चित्तौर आगमन की बात अदृष्ट शक्ति से ज्ञात होती है; वह अनुभव करती है उस हुलास को जो प्रिय के आगमन पर होता है। यहाँ 'महरा' प्रधान [राजा] के अर्थ में है। जो राजा दशहरे को गया था वही राजा रत्नसेन लौटा [पलटा] है। भाट ने राजा के आने की खबर दी थी। कवि का कथन है कि संयोग में जिस राजा ने शृंगार के 'दसो दाउ' दिखाया था वही लौटा है और उसके लौटने से नागमती का यौवन गंगा की तरह बढ़ने लगा अर्थात् पुनः उसके जीवन में वसंत आया। राजा का नाम सुनते ही उसकी 'सुख बारी' पल्लवित हो उठी। अगले छंद में यही बात इस प्रकार कही गई है—

सुनतहि खन **राजा कर नाऊं**। भा अनंद सब ठावँहि ठाऊँ।
पलटा कै पुरखारथ राजा। जस असाढ़ आवै दर साजा। ४२५

डॉ० अग्रवाल की व्याख्या है—सुरत के दसौ दाँव करके जो दशहरे के दिन गया था वह विचित्र सेना लेकर आज लौट आया है।"

टिप्पणी में कहा गया है—'नाउँ लै महरा'=मेरे ससुर का नाम लेकर। ससुर का नाम चित्रसेन था (७३।१) अतएव अर्थ हुआ चित्र या बड़ी सेना लेकर लौटा है।"

मेरी समझ में 'नाउँ लै महरा' तथा 'राजा कर नाऊँ' दोनों एक ही अर्थ को व्यक्त कर रहे हैं—नागमती राजा का नाम नहीं ले सकती इसीलिए ये प्रयोग हैं।

[प्रामाणिक हिन्दी कोश के अनुसार 'महर' बड़े आदमियों के लिए व्यवहृत एक आदर सूचक शब्द है। ब्रज में 'महरि-महरी' प्रतिष्ठित स्त्रियों के लिए व्यवहृत होता है। 'महरि' का विकसित अर्थ स्वामिनी है।]

१२. मोकराना = मुक्त करना, केस बिथुराना, खोलना सं० मुच् (मुक्त)

सरवर तीर पदुमिनी आई। खोंपा छोरि केस **मोकराई**। ६१

केस का मोकराना (बालों को छिटकाना, फैलाना) मध्यकाल के काव्यों में कई जगह है। पृथ्वीराज रासव ३।१७।५ में 'केस मुक्करे' प्रयुक्त है। मधुमालती २०७।५ में 'केस मोकराए' है।

हिन्दी में 'मोकना' क्रिया छोड़ने के अर्थ में है। 'मोकल' का अर्थ है मुक्त। मराठी गुजराती में क्रमशः 'मोकडा', 'मोकलेल' है।

डॉ० अग्रवाल ने 'मोकराई' को संस्कृत 'मुकुलित' से संबंधित बताया है पर यह अर्थ की दृष्टि से भी संभव नहीं है। 'मुकुलित' का अर्थ है 'आधा खुला'।

मधुमालती ३३६।३ 'मोकराई' बंधनमुक्त के भाव में स्पष्ट है—

धिय गै देह तेहि विधि **मोकराई**।

संस्कृत में 'मुक्तकेश' बालों को ढीला करना, फैलाना, छितराना के आशय में है। अवधी 'मोकराना' इसी भाव में है। 'खोंपा छोरि केस मोकराई' का छंद है पद्मावती ने जूड़ा खोलकर बालों को छिटका दिया। इस प्रकार बालों के बिथराव से—

'ओनए मेघ परी जग छाहाँ।'

१३. सुसार, सुसारा=सुसंस्कृत भोज्य, भलीभाँति सिद्ध किया हुआ भोजन। प्रयस्त। सं० सुसंस्कृतं।

(१) भा आयसु राजा कर बेगिहि करहु रसोइ।

तस **सुसार** रस मेरवहु जेंहि रे प्रीति रस होइ।। ५४०

यहाँ 'सुसार' भलीभाँति संस्कार किया हुआ भोज्य है। जेंवनार अथवा भोज षट्रसों से युक्त हो जिससे राजा रत्नसेन और बादशाह अलाउद्दीन में प्रेम बढ़े।

डॉ० अग्रवाल ने 'सुसार' का अर्थ भोजन सामग्री किया है। 'भोजनसामग्री' सम्यक् भाव का बोध नहीं करता—'सुसार' सम्यक् सिद्ध भोज्य है।

(२) कै बुझाउ लै मँदिल सिधारी। भई **सुसार** जेंवै नहिं नारी। ४०३

डॉ० अग्रवाल ने 'सुसार' का अर्थ रसोई किया है पर 'सुसार' रसोई मात्र नहीं बल्कि भलीप्रकार छौंका-बघारा स्वादिष्ट भोज्य है।

अग्रवाल जी 'सुसार' को सं० सूपशाला से व्युत्पन्न बताते हैं पर 'सुसार' सूपशाला नहीं सम्यक् सिद्ध आहार है।

[३] होइ लाग जेंवनार **सुसारा**। कनक पत्र पसरे पनवारा। २८३

अग्रवाल जी की व्याख्या है 'जेवनार के लिए रसोई की सामग्री होने लगी।'

पर कवि का आशय है विवाह के अवसर पर स्वादिष्ट भोजन के जेंवनार की तैयारी होने लगी।

रामचरितमानस में 'सुसारा' प्रयुक्त है—

भरि भरि बसहँ अपार कहारा। पठई जनक अनेक **सुसारा**। बाल०

अतः 'सुसार', 'सुसारा' प्रयस्त-सुसंस्कृत भोज्य है। अमरकोष, 'प्रयस्तंस्यात्सुसंस्कृतं' तुलनीय सं० आसार=भोजन।

भाषा, बोली और हिन्दी-भाषी क्षेत्र

डॉ० व्रजेश्वर वर्मा

मनुष्य की शाब्दिक अभिव्यक्ति के लिए जो अनेक अभिधान प्रचलित हुए हैं (यथा, बाक, वाणी, भाषा, बोली, ज़बान—स्पीच, लैंग्वेज, डायलेक्ट, टंग, लाँग, पेरोल, पेतुवा आदि) उनमें भाषा (लैंग्वेज) और बोली (डायलेक्ट)—इन दो नामों के सम्बन्ध में प्रायः वाक-द्वन्द्व होता है। सामान्यतः भाषा शब्द का प्रयोग मनुष्य की वाक यंत्रों द्वारा निकाली गयी सार्थक ध्वनियों के लिए सभी संदर्भों में निर्विवाद रूप में प्रचलित है। परन्तु किसी देश विशेष या क्षेत्र विशेष में प्रचलित वाणी के भौगोलिक आधार पर विविध और विभिन्न रूपों के लिए जब भाषा शब्द का प्रयोग होता है तब उसमें अल्पव्याप्ति या अतिव्याप्ति का संकेत मिलता है और 'भाषा' और 'बोली' शब्दों में अंगांगि सम्बन्ध को सुरक्षित रखना आवश्यक हो जाता है। इसी संदर्भ में प्रायः विवाद उठ खड़ा होता है, भाषा और बोली की परिभाषा में विभाजक रेखा की खोज होने लगती है और कभी-कभी मतभेद का समाधान करने के लिए भाषा के साथ विशेषकों का प्रयोग होने लगता है, जैसे, उपभाषा, लोकभाषा, जनभाषा, सहभाषा, क्षेत्रीय भाषा आदि।

हिन्दी का 'बोली' शब्द वर्तमान अर्थ में अपेक्षाकृत नया है। कदाचित इसी अर्थ में कबीर, तुलसी और कुछ अन्य मध्ययुगीन कवियों ने 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया था, जब उन्होंने लोक-प्रचलित भाषा का उल्लेख अपने समय तक प्रतष्ठित साहित्यिक भाषा—संस्कृत के संदर्भ में किया था। परन्तु वर्तमान युग में 'भाषा' शब्द अधिक प्रतिष्ठा-प्राप्त है, उसके अर्थ की व्याप्ति का विस्तार हुआ है और मनुष्य की शाब्दिक अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त अन्य नाम उसके अंगभूत हो गये हैं। इनमें 'बोली' शब्द भौगोलिक आधार पर पहचाने गये भाषा के विविध रूपों के लिए विशिष्ट हो गया है।

'भाषा' और 'बोली' में भाषिक संरचना की दृष्टि से कोई विभाजक-लक्षण नहीं है। परन्तु आधुनिक भाषाविज्ञान का विचार-क्षेत्र संरचना तक सीमित नहीं रहा। भाषा को उसके वास्तविक प्रयोग की संपूर्णता में देखने की पद्धति के आधार पर उसकी

विविधताओं को स्वीकारा गया है और भाषा-विज्ञान के अध्ययन की इस नयी दिशा के फलस्वरूप समाज-भाषाविज्ञान को प्रतिष्ठित किया गया है। समाज-भाषाविज्ञान भाषा विशेष को समरूपी [होमोजीनस] और स्वायत्त [ऑटॅनॅमस] नहीं मानता। उसकी दृष्टि में भाषा विशेष की आंतरिक रूप-रचना का अध्ययन पर्याप्त नहीं है, उसकी सार्थकता के लिए भाषा के सामाजिक पक्ष अर्थात् उसके प्रयोग और प्रयोगकर्ताओं के संदर्भ में उसकी बहुपक्षीयता का अध्ययन आवश्यक है। भाषा के इस प्रकार के अध्ययन के फलस्वरूप उसकी विविधताओं का जब आकलन किया जाता है तो प्रकट होता है कि किसी भाषा-समुदाय में सामाजिक स्तर, संदर्भ, परिस्थिति, विषय, प्रयोगकर्त्ता के वय और संस्कार, देश और काल की दूरी आदि अनेक अंतरों के आधार पर भाषा विशेष के अनेक रूप पाये जाते हैं। इनमें भौगोलिक दूरी पर आधारित भेद को तो ऐतिहासिक भाषाशास्त्र में भी स्वीकार किया गया था, परन्तु अन्य भेदों की पहचान और उनका अध्ययन समाज-भाषाविज्ञान के विकास से ही संभव हुआ है। भाषा के भौगोलिक भेद बोली-भेदों में प्रतिफलित हुए हैं और संरचनात्मक भाषाविज्ञान में उनके विश्लेषण और वर्णनमूलक अध्ययन विस्तारपूर्वक किये गये हैं। ऐसे अध्ययनों का लक्ष्य विशेष रूप से एशिया और अफ़्रीका के देश रहे हैं जिनकी अनेक भाषाओं/बोलियों की पहचान कर उनके अलग-अलग नाम दिये गये हैं। राजनीतिक दृष्टि से छिन्न-भिन्न होने के कारण इन देशों की भाषाओं/बोलियों के सम्बन्ध में भाषा-बोली वाकद्वन्द्व अपेक्षाकृत अधिक उभर कर सामने आया है। परन्तु इस द्वन्द्व का मूल आधार संरचनात्मक न होकर शुद्ध सामाजिक है। अतः इस विवाद को समाज-भाषाविज्ञान की दृष्टि से ही समझा जाना चाहिए।

राजनीतिक आधार पर राष्ट्र द्वारा स्वीकृत बोली 'भाषा' का दर्जा पा जाती है, उस राष्ट्र की अन्य भाषाएँ बोलियाँ रह जाती हैं, उदाहरण के लिए इंगलैंड की वेल्श, फ्रांस की ब्रेटन, क्रमशः अंग्रेज़ी और फ्रेंच से संवद्ध न होते हुए भी राजनीतिक दृष्टि से उनकी बोलियाँ हैं। लिथुआनियन और लेटिश प्रथम युद्ध के बाद भाषाओं की हैसियत पा गयी थीं; परन्तु बाद में वे फिर सोवियत संघ की बोलियाँ हो गयीं। राजनीतिक कारण से ही भारत की उन भाषाओं को जिन्हें अब भाषा का दर्जा प्राप्त है ब्रिटिश साम्राज्य के काल में वर्नाक्युलर [देशभाषा] कहा जाता था। भारत की भाषाओं के समाचार पत्रों को अंग्रेज़ी समाचार पत्रों के संदर्भ में प्रायः भाषा-समाचार पत्र कहा जाता है, जिससे अंग्रेज़ी के अति-महत्व की व्यंजना होती है। भाषाओं का यह अति-महत्त्व उनके अंतरराष्ट्रीय प्रभुत्व और राष्ट्रसंघ द्वारा उनकी मान्यता से भी सिद्ध होता है। भाषा का यह दर्जा राष्ट्र द्वारा स्वीकृत भाषा की हैसियत से भी ऊँचा है।

परन्तु भाषाओं की राष्ट्रीय मान्यता का आधार उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यता है जो उनके साहित्य की मान्यता द्वारा प्रमाणित होती है। प्राचीन भाषाओं—संस्कृत, ग्रीक, लेटिन, अरबी, चीनी—की भाषा के रूप में विश्वव्यापी मान्यता उनके सांस्कृतिक-साहित्यिक महत्त्व के कारण है। इन भाषाओं को यह महत्त्व इस कारण मिला कि

उनके माध्यम से तत्कालीन समाजों की धार्मिक-सांस्कृतिक गति-विधियों का संचालन किया गया। निश्चय ही ये भाषाएं अपने समय की अनेक बोलियों में से ही उभरीं और सामाजिक शक्तियों के सहारे अपना प्रभुत्व बनाये रहीं। परन्तु भाषाओं में और कदाचित मनुष्य के सामाजिक समूहों में भी विघटन की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। संघटन और केन्द्रीकरण की सामाजिक शक्तियाँ ज्यों-ज्यों शिथिल होती जाती हैं, त्यों-त्यों केन्द्रीय भाषाओं में भी केन्द्रापसारी प्रवृत्तियाँ बढ़ती जाती हैं और बोलियाँ उभरती आती हैं। भारत-यूरोपीय भाषा परिवार और उसके बाद उसकी प्रमुख भाषाओं—संस्कृत, ग्रीक लेटिन का इतिहास इसके प्रमाणों से भरा पड़ा है। साथ ही इन भाषाओं के इतिहास से भाषाओं में केन्द्रीकरण की प्रवृतियों के भी प्रमाण मिलते हैं। संस्कृत, लेटिन और सामी भाषा अरबी में धार्मिक शक्तियों के द्वारा केन्द्राभिसारी प्रवृत्तियों का संचार हुआ था। प्राचीन और मध्य युग में जो स्थान धर्म का था, लगभग वही स्थान आधुनिक युग में अर्थ का है। आज आर्थिक शक्ति के प्रभुत्व के द्वारा राजनीति का संचालन होता है और अर्थ-राजनीति सांस्कृतिक और साहित्यिक गति-विधियों को प्रभावित करती है। फलस्वरूप इनका वहन करने वाली भाषा का भी महत्त्व स्थापित होता है। अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, चीनी, स्पेनिश, अरबी के गत सौ वर्ष के इतिहास पर दृष्टि डालने से इस तथ्य के रोचक प्रमाण मिलते हैं। भाषाओं की केन्द्रापसरण की सहज प्रवृत्ति को सामाजिक शक्तियाँ कृत्रिम रूप से केन्द्राभिसरण की ओर मोड़ती रहती हैं और जब ये शक्तियाँ शिथिल हो जाती हैं तो केन्द्रापसारी प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से कार्यरत हो जाती हैं। यह प्रक्रिया वैसी ही है जैसी किसी भाषा के परिवर्तन की प्रक्रिया। व्याकरणिक नियमन, शिक्षा और साहित्य भाषा को बाँधने में जब सफल नहीं हो पाते, तब उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया प्रबल हो जाती है।

हिन्दी क्षेत्र के भाषा-परिदृश्य से स्वयं उपर्युक्त स्थापना के प्रमाण मिल जाते हैं। आधुनिक आर्यभाषा काल तक ही यदि हम अपनी दृष्टि सीमित रखें तो ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक उत्तर पश्चिम से भारत में प्रवेश करने वाले मुस्लिम धर्मावलंबी कम से कम सिंध-पंजाब से लेकर बिहार-बंगाल तक की सभी भाषाओं को हिन्दी नाम से अभिहित करते थे (अमीर खुसरो)। दिल्ली और उसके आस-पास की भाषा को जिसे उन्हें सीखना पड़ा पहले उन्होंने 'देहलवी' और बाद में 'हिंदवी' नाम दिया। इसी भाषा को लेकर वे १४वीं शती में दक्षिण—बीजापुर-गोलकुंडा गये, जहाँ उसे एक और नाम मिला 'दकनी'। मध्ययुग में भाषा के नाम के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग केवल रहीम की कविता के सन्दर्भ में हुआ है और शायद उपर्युक्त आरम्भिक अर्थ में ही। रहीम की भाषा ब्रज थी, परन्तु भाषा के लिए 'ब्रजभाषा' शब्द का प्रयोग शायद अठारहवीं शताब्दी से पहले नहीं मिलता। आज जिन्हें हम हिन्दी के कवि कहते हैं वे इस क्षेत्र की भाषा के जिन विभिन्न रूपों में लिखते थे उन्हें आज हम मैथिली, मारवाड़ी, हिंदवी (खड़ीबोली) ब्रज और अवधी कहते हैं। इन कवियों में यदि किसी ने अपनी भाषा का नामोल्लेख किया है तो उसे केवल भाखा (भाषा) कहा है, जैसे कबीर और तुलसी ने। तुलसी ने ब्रज और दो प्रकार की अवधी में रचनाएं की थीं, परन्तु उनके लिए ब्रज और अवधी में नाम-भेद नहीं था।

मध्य युग के हिन्दी साहित्य में कालक्रम से यदि देखें तो हिंदवी, मैथिली, मारवाड़ी, ब्रज और अवधी, इन चार बोलियों को साहित्यिक भाषा का गौरव मिला और वे अपनी-अपनी बोलियों के क्षेत्रों का अतिक्रमण कर सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र में लोकप्रिय हो गयीं। उनके इस उत्थान के पीछे सामाजिक शक्तियाँ ही थीं, इसका संकेत मात्र पर्याप्त होगा। इन साहित्यिक भाषाओं में प्रसरण की प्रवृत्ति के साथ-साथ क्षेत्र की अन्य बोलियों के तत्त्वों को समेटने और उन्हें आत्मसात कर लेने की शक्ति भी थी। इस दृष्टि से हिंदवी और ब्रज को सबसे अधिक व्यापकता और प्रतिनिधिकता प्राप्त हुई। एक के पीछे राजनीति के परोक्ष संबल के साथ धार्मिक आंदोलन की व्यापक प्रचार-शक्ति थी, तो दूसरी के पीछे एक प्रबल धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आंदोलन का माध्यम बनने का गौरव था। उसे राजनीतिक प्रश्रय भी प्राय: अनन्य रूप में मिला था।

परन्तु बोली के स्तर से उठकर लगभग चार शताब्दियों तक भाषा का गौरव वहन करने के बाद ब्रजभाषा को सामाजिक जीवन से विच्छिन्न हो जाने के कारण अपनी प्रतिनिधिक भूमिका से वंचित हो जाना पड़ा। उसका स्थान पुन: हिंदवी ने ले लिया और रोचक यह है कि ब्रजभाषा को उसने 'खड़ीबोली' का नया नाम धारण करके अपदस्थ किया।

आधुनिक काल में सबसे पहले अर्स्किन पेरी ने १८५३ ई० में हिन्दी की आठ बोलियों का उल्लेख किया था--हिन्दुस्तानी या उर्दू, ब्रजभाषा, बाँगरी भाषा (बुंदेली), पंजाबी, मुलतानी, जटकी, सिंधी और मारवाड़ी। १८६६ में जॉन बीम्स ने हिन्दी की १७ बोलियों का उल्लेख किया और कहा कि मराठी, गुजराती, सिंधी, कोच (कच्छी ?), पंजाबी, डोगरी, कश्मीरी, परबतिया, मूंगुई और पल्पा भी 'न्यूनाधिक हिन्दी' ही हैं। बीम्स के अनुसार हिन्दी की आठ बोलियाँ हैं--मैथिली, मगधी, भोजपुरी, कोसली, ब्रजभाषा, कनौजी राजस्थानी और बुंदेली। बीम्स ने हिन्दी क्षेत्र की सीमा बताते हुए सरहिंद, जैसलमेर, उदयपुर, इंदौर, सोन नदी, सरगुजा, संथाल और राजमहल की पहाड़ियों का उल्लेख किया है। भाषाओं की दृष्टि से हिन्दी की सीमाएं पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी और बंगला से घिरी हुई हैं। बीम्स ने हिंदी को सबसे प्राचीन और सबसे अधिक विस्तार में फैली हुई आर्यभाषा का प्रतिनिधि बताया है। उन्होंने कहा है कि हिन्दी और गुजराती, हिन्दी और पंजाबी, हिन्दी और बँगला और हिन्दी और ओड़िया में थोड़े से ही अंतर हैं। हार्नले (१८७२-७४) ने भी बीम्स द्वारा उल्लिखित सभी बोलियों को हिन्दी के अन्तर्गत गिनाया है। हार्नले की तरह केलॉग (१८७६) ने भी मारवाड़ी, मेवाड़ी, मैरवाड़ी, जयपुरी, हाड़ौती, गढ़वाली, कुँमायूनी, नेपाली, ब्रज, कनौजी, अवधी, बँगला, भोजपुरी, मगही और मैथिली को हिन्दी के अंतर्गत रखा है। इसी प्रकार आर०एन० कस्ट ने (१८७८) इन सब बोलियों को हिन्दी की ५८ बोलियों में गिनाया है। उन्होने स्वीकार किया है कि आधुनिक आर्यभाषाओं में हिन्दी का केन्द्रीय स्थान है और सभी आर्य बोलियों को हिन्दी के साथ वर्गीकृत करना चाहिए।

परन्तु सर जार्ज ग्रियर्सन ने आगे चलकर उक्त तथ्यात्मक मान्यता को ध्वस्त करने में अद्वितीय सफलता प्राप्त की, यहाँ तक कि हिन्दी और उसकी बोलियों के विषय में उनके

निर्णय आप्तवाक्य माने जाने लगे। यह कितने आश्चर्य की बात है कि बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हरयाणा, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली द्वारा साहित्यिक और शासकीय दोनों क्षेत्रों में हिन्दी की विधिवत और व्यावहारिक स्वीकृति के बावजूद पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी, राजस्थानी और पहाड़ी की संकल्पना आज भी दुहराई जाती है और उसे भाषाविज्ञान का प्रमाणपत्र दिया जाता है। आज भी हिन्दी क्षेत्र के भाषा विवरण को इसी प्रकार तथाकथित वैज्ञानिक विधि से समझा-समझाया जाता है।

हिन्दी के विषय में ग्रियर्सन की धारणा अत्यंत तिरस्कारमूलक है। ग्रियर्सन ने भविष्यवाणी की थी कि साहित्यिक हिन्दी में कविता लिखने के यत्नों को सफलता नहीं मिल सकती।

इसमें संदेह नहीं कि सरजार्ज ग्रियर्सन द्वारा सम्पन्न भाषासर्वेक्षण का ऐतिहासिक कार्य सदा स्मरणीय और उद्धरणीय रहेगा। भले ही ग्रियर्सन द्वारा संकलित उदाहरण सर्वथा प्रामाणिक न हों, उनकी उपयोगिता आज भी है। परन्तु ग्रियर्सन का वर्गीकरण का आधार और उसमें इस तथ्य की अस्वीकृति कि हिन्दी के विशाल क्षेत्र में कम से कम पाँच सौ वर्षों तक एक न एक साहित्यिक भाषा सर्वस्वीकृत रही है, अब सर्वथा उपेक्षणीय है। ग्रियर्सन द्वारा वर्गीगत बोलियों में से अनेक के अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण वर्णनात्मक अध्ययन हुए हैं। अपने में उनका ऐतिहासिक महत्व कभी कम नहीं होगा। परन्तु भाषाओं की व्याकरणिक संरचना की तुलना में उनके सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहार और उपयोग की सीमाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

हम पीछे कह चुके हैं कि किसी बोली के भाषा रूप में स्वीकृत होने के लिए सबसे प्रमुख शर्त उसकी राष्ट्रीय मान्यता होती है। यह सही है कि भारत और भारत की तरह अन्य देशों में जहाँ विदेशी भाषा का साम्राज्य आज भी चल रहा है, इस शर्त को उसके नितांत तार्किक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु राष्ट्रीय मान्यता के पीछे जो अन्य शर्तें हैं वे भाषा-पराधीनता की स्थिति में भी उपलब्ध रही हैं। बोली को भाषा के स्तर तक उठाने के लिए उसके केन्द्र में कोई राजकीय अथवा सामाजिक शक्ति होती है जो उसके व्यवहार को उसके सीमित क्षेत्र का अतिक्रमण करके सहबोलियों तक फैला देती है। बोली/भाषा का क्षेत्र जितना व्यापक, बोली-वैविध्यपूर्ण और जीवन के अधिकाधिक व्यापारों में परिव्याप्त होता है, उसी मात्रा में वह भाषा अपने मूल बोली रूप से विलग होती जाती है और उसमें अक्षेत्रीयता के लक्षणों का अधिकाधिक समावेश होता जाता है। इस क्रम में उसमें जीवन के निखिल क्रियाकलाप, ज्ञान-विज्ञान, कार्य-व्यापार आदि की मानक अभिव्यक्ति की क्षमता आती जाती है। मानकीकरण और नयी से नयी सामाजिक अपेक्षाओं को वहन करने की योग्यता बोली से भिन्न भाषा का लक्षण है।

इस दृष्टि से हिन्दी क्षेत्र की बोलियों/उपभाषाओं/जनभाषाओं को देखें तो स्पष्ट होगा कि हिन्दी उन सब का प्रतिनिधित्व करती है, उनसे बल ग्रहण करती है और उन्हें

देश और विश्व के जीवन में सहभागी होने के लिए एक उन्नतिशील माध्यम प्रदान करती है। प्रश्न यह उठता है कि किस सीमा तक ये बोलियाँ/उपभाषाएँ हिन्दी के व्यापक दायित्व में उसको सहयोग दे सकती हैं। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सबसे पहले हमें उनके वास्तविक व्यवहार-क्षेत्र पर दृष्टिपात करना होगा। हिन्दी क्षेत्र ही नहीं, कोई भी भाषा क्षेत्र एक भाषी नहीं होता। हिन्दी क्षेत्र के सामान्य नागरिक का भाषा-व्यवहार घर, परिवार, पास-पड़ोस, कार्य-स्थान, औपचारिक कार्य-विषय, संपर्क-सम्बन्ध आदि के बदलते संदर्भों में अत्यन्त विविधतापूर्ण होता है। भाषा और बोली की अंतर-क्रिया को इन संदर्भों में देखा जा सकता है। हिन्दी क्षेत्र के सभी ग्रामीण अंचलों तक सड़क, रेल, डाकघर, बस-स्टेशन, रेल-स्टेशन, नहर, ट्यूबवेल, विकास-कार्यक्रम, बाज़ार-हाट, राशन, लेवी, स्कूल, कॉलेज, पुलिस, न्यायालय, प्रशासन आदि जीवन के अनेक अनिवार्य साधनों के माध्यम से हिन्दी भाषा पहुँचती रहती है, बोलियों से टकराती है, आदान-प्रदान करती है और अनेक प्रकार के मिश्रित रूपों में प्रयुक्त होती है। इस प्रक्रिया में वह बोलियों की स्वनिम-प्रणाली, पदबंध-प्रणाली, वाक्य-विन्यास और अर्थ-प्रणाली को किस सीमा तक प्रभावित करती जा रही है इसका विश्लेषण रोचक और उपादेय होगा।

इस भूमिका में बोलियों/उपभाषाओं को प्राथमिक और वयस्क शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रस्ताव न तो व्यावहारिक है और न सामान्य रूप से स्वीकृत किया जाएगा। मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करने के संविधान-सम्मत मूल अधिकार को हिन्दी की बोलियों/उपभाषाओं पर लागू करना तर्कसंगत नहीं है। जैसे इंगलैंड और वेल्स की तीस क्षेत्रीय बोलियों को इस रूप में स्वीकृत कराने की माँग हास्यास्पद मानी जाएगी, उसी प्रकार हिन्दी के राष्ट्रीय गौरव और अंतर-राष्ट्रीय भविष्य में आस्थावान हिन्दी भाषी इस प्रकार के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकते। शिक्षा में बोलियों का माध्यम राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा में उन्हें प्रवेश करने में बाधक होगा। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी भाषा के शिक्षण को अधिक पुष्ट और सफल बनाने के लिए शिक्षार्थी की बोली को ध्यान में रखकर शिक्षण-सामग्री का निर्माण और शिक्षण-पद्धति का निर्धारण करना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक बोली/उपभाषा क्षेत्र के लिए आरंभिक स्तर पर व्यतिरेकी अध्ययन के आधार पर तैयार की गयी शिक्षण-सामग्री का उपयोग यथेष्ट भाषा-दक्षता प्राप्त करने में सहायक हो सकता है।

हिन्दी क्षेत्र की अनेक बोलियों/उपभाषाओं में लिखित साहित्य भी प्रकाशित हो रहा है। मैथिली और राजस्थानी साहित्य को तो साहित्य अकादमी ने मान्यता भी दी है। इस सम्बन्ध में प्राय: हिन्दी क्षेत्र के भाषिक विघटन और केन्द्रापसारी प्रवृत्तियों के प्रबल होने के ख़तरे का संकेत किया जाता है। परन्तु साहित्यिक गतिविधियों को प्रोत्साहन न देने के सुझाव पर मतभेद संभव है। आवश्यक यह है कि बोलियों/उपभाषाओं की साहित्यिक सक्रियता के पीछे यदि कोई राजनीतिक उद्देश्य हों तो उनसे सावधान रहा जाए। केन्द्रापसारी भाषिक राजनीति का नियमन राजनीतिक स्तर

पर तो आवश्यक है ही, साहित्यिक स्तर पर भी संभव और अधिक उपादेय है। हिन्दी के प्रति अधिक अपनत्व की भावना उसके जन-जीवन के अधिक निकट आने और उसके राष्ट्रीय और अंतर-राष्ट्रीय गौरव प्राप्त करने के साथ संबद्ध है।

बोली को भाषा के पद तक पहुँचने के लिए मानकीकरण, आधुनिकीकरण और अक्षेत्रीयता की कसौटियों पर हिन्दी क्षेत्र की बोलियाँ/उपभाषाएँ कहाँ तक खरी उतर सकती हैं, यह भी विचारणीय है। संभव है कुछ बोलियाँ/उपभाषाएँ इन कसौटियों की प्रक्रिया से गुज़रने की स्थिति में आ रही हों। परन्तु अंतिम कसौटी राजनीतिक मान्यता की होगी।

परन्तु हिन्दी और उसकी बोलियों/उपभाषाओं में भाषिक आदान-प्रदान सामाजिक जीवन के विविध क्रियाकलाप के फलस्वरूप बराबर बढ़ता जा रहा है। हिन्दी की सभी बोलियाँ/उपभाषाएँ हिन्दी से अधिकाधिक प्रभावित होती जा रही हैं। साहित्य के स्तर पर यह प्रभाव अधिक दृढ़ होता जाएगा, इसमें संदेह नहीं।

भाषा, सहभाषा, उपभाषा, बोली के संबंध में राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना उचित होगा। देश के नाम से भाषा की पहचान होना देश की प्रतिष्ठा और अंतर-राष्ट्रीय मान्यता की दृष्टि से देश के सभी नागरिकों के स्वाभिमान को बढ़ाने का कारण होगा। भारत की भाषा हिन्दी है, इस एक मान्यता के बल पर अंतर-राष्ट्रीय क्षेत्र में हमारा गौरव बढ़ेगा। भारत की अन्य भाषाएं जो संविधान द्वारा स्वीकृत हैं हिन्दी की सहराष्ट्रीय भाषाएँ हैं। हिन्दी उनसे बल प्राप्त करती है। उनके अतिरिक्त जो डेढ़ हज़ार से ऊपर मातृभाषाएँ जनगणना के आधार पर बतायी जाती हैं उनमें से कुछ, विशेष रूप से हिन्दी के संदर्भ में, लिखित साहित्य के आधार पर जो बोली की स्थिति से ऊपर उठ गयी हैं उन्हें हिन्दी की उपभाषाएँ कहना उचित है। शेष हिन्दी और अन्य सहराष्ट्रीय भाषाओं की बोलियों के रूप में उनके साहित्यिक-सांस्कृतिक गौरव की सहभागी हैं। भारत और हिन्दी क्षेत्र के इस भाषिक वर्णन पर सर्वसम्मति होना वांछनीय है।

दक्खिनी हिन्दी का सूफी कवि शेख मोहम्मद अमीन गुजराती और उसका काव्य

—डॉ० रहमतउल्लाह

मुसलमानों में अनेक अन्य नामों की भाँति 'अमीन' शब्द अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय नाम है जो बड़ा ही अर्थपूर्ण एवं विशिष्ट समझा जाता है। यही कारण है कि भारत तथा संसार के अन्य देशों में अमीन नाम रखने की बहुत ही प्राचीन परम्परा रही है। दक्खिनी हिन्दी में अमीन नाम के कई कवि हो चुके हैं जिनमें अधिकांश का सम्बन्ध बीजापुर, गोलकुंडा तथा गुजरात से रहा है। इन कवियों में अमीन कछवाहा, शाहअमीन अथवा शाह अमीनुद्दीन आला, ख्वाजा मोहम्मद अमीनुद्दीन खाँ और अमीन आलोच्य शेख मुहम्मद अमीन से भिन्न हैं जिनका सम्बन्ध बीजापुर या गोलकुंडा से नहीं था।

शेख मोहम्मद अमीन गुजराती एक विरक्त सूफी होने के कारण अपने जीवन से अनासक्त प्रतीत होता है। यही कारण है कि कवि का जीवन अन्धकाराच्छन्न है। प्राप्त सामग्रियों एवं काव्यों में इनका संक्षिप्त जीवन विवरण ही प्राप्त होता है। अमीन नामधारी अन्य कवियों के जीवन के कारण एक भयंकर भ्रमजाल तैयार हो गया है। इस कवि का परिचय देने वाली सामग्री में निम्नलिखित का नाम लिया जा सकता है—

वहिर्साक्ष्य की सामग्री—

(१) करीमुद्दीन का तबकातुश्शोअरा
(२) हकीम सैयद शमसुल्लाह कादरी का 'उर्दू-ए-कदीम'
(३) नसीरुद्दीन हाशमी का 'यूरोप में दकनी मखतूतात'
(४) नसीरुद्दीन हाशमी का 'दकन में उर्दू'
(५) राहुल जी का 'दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा'
(६) डॉ० मोहम्मद अब्दुल हमीद—'यूसुफ-जुलेखा' की भूमिका

अन्तर्साक्ष्य की सामग्री

(१) कवि के 'यूसुफ-जुलेखा' तथा 'साकीनामा' काव्य

(२) समकालीन कवि मोहम्मद फतेह की पुस्तकें 'यूसुफ-सानी' तथा 'जुलेखा-सानी'।

कवि परिचय—इस सम्बन्ध में वहिर्साक्ष्य से निम्नलिखित सूचना प्राप्त होती है—

(१) डॉ० सैयद मोहीउद्दीन कादरी 'जोर' ने इसे गोलकुंडा का दूसरा अमीन कहा है। इसका पूरा नाम शेख मोहम्मद अमीन था और इसका काव्य 'यूसुफ-जुलेखा' औरंगज़ेब के समय में १६९७ ई० में लिखा गया था। इन्होंने अमीन को बड़ा कवि नहीं माना। बल्कि एक धार्मिक व्यक्ति स्वीकार किया है। पं० राहुल जी भी ऐसा ही स्वीकार करते हैं।[१]

(२) इसके सम्बन्ध में मोलवी करीममुद्दीन साहब का विचार है कि कवि का पूरा नाम मीर मोहम्मद अमीन और उपनाम अमीन था। यह दकनी का प्रसिद्ध कवि था। 'साकी-नामा' और यूसुफ-जुलेखा' इसकी प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रचना है। यह वंश परम्परा की दृष्टि से सैयद है और वाराणसी का निवासी है। अमीन मीर गुलाम अली आज़ाद 'विलग्रामी' का शिष्य था। जीवन के अन्तिम क्षणों में दक्षिण की यात्रा की थी और वहीं पर उसकी मृत्यु हुई थी।[२]

डॉ० मोहम्मद अब्दुल हमीद फारूकी साहब ने उक्त मतों को केवल अनुमानाश्रित ही बताया है। इनके अनुसार अमीन न गोलकुंडा का निवासी था और न बनारस का।[३] डॉ० ज़ोर ने अमीन की 'यूसुफ-जुलेखा' का आधार अमीर खुसरू का यही काव्य माना है किन्तु डॉ० रज़ाज़ादा शफक, अल्लामा शिबली नोमानी, डॉ० वाहिद मिर्जा, सैयद सबाहुद्दीन, अब्दुल रहमान आदि प्रसिद्ध विद्वान आलोचकों ने खुसरो द्वारा रचित युसुफ-जुलेखा काव्य से असहमति प्रगट की है। इन लोगों ने इसे एक कपोल कल्पना कहा है। डॉ० ज़ोर का मत अमीन के स्वकथन से भी अप्रमाणित सिद्ध हो जाता है।

हकीम सैयद शमसुल्लाह कादरी कवि का पूरा नाम मोहम्मद अमीन बताते हैं। वह गुजरात का निवासी था। औरंगज़ेब के समय इसका अन्तकाल हो गया था। इन्होंने सन् १६९७ ई० में गूजरी में यूसुफ-ज़ुलेखा प्रेम कहानी की रचना की थी।[४] इसके अतिरिक्त हकीम साहब ने अमीन द्वारा १६८७ ई० में रचित एक 'नातिया कलाम' का भी उल्लेख किया है।[५] श्री नसीरुद्दीन हाशमी ने भी इसको गुजरात का कवि माना है। यह एक सूफी मुसलमान कवि था और कादरिया सूफी सम्प्रदाय में मुरीद था। कविता करना उसका काम नहीं था, वह धार्मिक व्यक्ति था और इस्लामी शरीअत का पक्का अनुयायी था।[६] इसने यूसुफ-ज़ुलेखा को 'गोधरी' भाषा में लिखा था।[७] अमीन ने इसकी रचना गूजरी में की थी, गोधरी में नहीं। विविध हस्तलिखित प्रतियों में भी इसी का उल्लेख है।

इसी प्रकार मोलवी अब्दुलहक साहब ने भी इनको गुजराती कवि माना है।[८]

हाफिज महमूद खाँ शीरानी ने भी इसी का समर्थन किया है। उसकी भाषा को भी गूजरी नाम दिया है।[९]

अन्तर्साक्ष्य से कवि के सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत—अपने जन्मस्थान, समकालीन बादशाह, रचनाकाल आदि के सम्बन्ध में कवि ने स्वकथन के रूप में स्पष्ट संकेत किया है। प्रेमाख्यान के अध्ययन से उसके जीवन से सम्बन्धित कतिपय विशेषताओं का भी परिचय मिल जाता है और उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। अमीन को अपनी मातृभूमि गुजरात और भाषा गूजरी या गुजराती पर बड़ा स्वाभिमान था।[१०]

सुनो मतलब अहे अब तो अमीं का,
लिखे गूजरी मने यूसुफ-जुलेखा।
हर एक जागे किस्सा फारसी में,
अमीन उस कूँ उतारे गूजरी में,
कि पूछे हर कोई इसकी हकीकत,
वड़ी है गूजरी जग बीच न्यामत।

इसी प्रकार प्रेमाख्यान के अन्त में कवि कहता है[११]:

इलाही तू मुझे तौफीक जो दी,
तो मैं बी फारसी से गूजरी की।
मैं इसके वास्ते कैती में गूजरी,
हकीकत सब अदा होवे अनू की।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि कवि गुजरात का रहने वाला था और उसकी भाषा गूजरी थी। यह प्रारम्भिक उर्दू या हिन्दुई थी जिसको दक्खिनी हिन्दी कहा जाता है। क्षेत्रीय भावनाओं से प्रभावित होने के कारण ही इसे गुजराती या गूजरी कहा गया था। इसके अतिरिक्त समकालीन परिचय ग्रंथों में भी इसका उल्लेख है। अमीन का समस्थानीय समकालीन कवि का नाम मोहम्मद फतेह था। वह भी 'यूसुफ-जुलेखा' लिखना चाहता था किन्तु अमीन द्वारा पहले ही लिख दिए जाने पर उसको ईर्ष्या हुई और उसने अपने काव्य का नाम 'यूसुफ-सानी' या 'जुलेखा-सानी' रखा। उसने अमीन को और अपने को गोधरा का निवासी बताया जो गुजरात का एक क्षेत्र है। 'यूसुफ-सानी' में फतेह ने कहा[१२]:

सुन मोहम्मद तू फतेह भुज सी मैं बात,
गोधरे के बीच तू है नेक ज़ात।

अमीन ने अपनी दूसरी रचना 'साकीनामा' में 'यूसुफ-जुलेखा' को वृद्धावस्था में लिखा बताया है। वह बुढ़ापे के कष्टों से पीड़ित था। कवि कहता है :[१३]

पिला साकी शराब अर गवानी, अमीं कूँ देके फिर पकड़े जवानी।
जई की ज़ात की जावे सो सब टल, आवे हाथू पगू में फेर कर बल।
बदन सब हो गया है ला जोर दी, हुआ मुख जाफरां मानिन्द ज़र्दी।

इससे स्पष्ट है कि उसका नाम मोहम्मद अमीन था और उपनाम अमीं था। इस्लाम का अनुयायी, पक्का सूफी था, अलौकिक प्रेम में विशेष रुचि थी। पीर मोहीउद्दीन जिलानी का मुरीद था। वह सुन्नी मुसलमान था। वह गोधरा–गुजरात का निवासी था और उसकी भाषा गूजरी थी।

कवि का व्यक्तित्व—उसके स्वकथनों से व्यक्तित्व का स्पष्ट संकेत मिलता है। धर्म-निपट व्यक्ति था और एकेश्वरवाद में उसका अटूट विश्वास था। मूर्तिपूजा का विरोधी था। छल-कपट, अहंकार से सर्वथा मुक्त था। झूठी प्रशंसा में विश्वास नहीं करता था। पवित्र सादा जीवन उसे विशेष प्रिय था। लौकिक प्रेम की अपेक्षा आध्यात्मिक तथा अलौकिक प्रेम को अधिक महत्व दिया। कवि ने विविध सांसारिक संकटों एवं यातनाओं का कारण लौकिक प्रेम को ही स्वीकारा है। दोनों प्रेम को एक साथ परखते हुए कवि कहता है[१४]:

अरे बन्दे हक़ीकी इश्क जानो, मजाज़ी इश्क कूँ दिल पर न आनो।

× × ×

हक़ीक़ी इश्क का है मरतबा रे, मजाज़ी इश्क तो झूठी बला रे।

कवि छल-कपट और अहंकार का विरोधी है। उसने काव्य में कहा भी है—

अमीं तू कुच ग़रूरी न करे रे, तकब्बुर दिल के भीतर न धरे रे।
भला तू होयगा तेरा दो जग माँ, जन्नत बीच जायेगा तू एक डग माँ।

× × ×

अरे यारो न रखो दिल में कूर, रखा जिन कूर सो हक के समावे।
कपत करतार अल्लाह कूँ न भावे, कपत दरगाह हक के ना समावे।
कुपुत और कूर दिल में सूँ निकालो, दग़ावाज़ी के भीतर दिल न डालो।

× × ×

गुरूरी का प्याला जिन पिया है, उने अपने सर ऊपर दुख लिया है।

कवि का अल्लाह पर अटूट विश्वास है। वह कहता है:

यकीं जो कोई अल्लाह पर न ल्यावे, मुरादां वे कभी जग में न पावे।
फिरे दोनों जगत में ना मुरादी, न होवे उसके नई एक ज़र्रा शादी।

कवि सत्यनिष्ट व्यक्ति था अतः अपने काव्य में स्थान-स्थान पर सत्यासत्य पर अपना विचार व्यक्त करता रहता है—

अरे यारों तुम्हें झूटज न बोलो, बग़ैर अज सांच अपने लब न कहू लो।
सच्चा दो जग में पावे खलासी, झूठा दोनों जगत कें बीच हांसी।
सचे को हक़ ताला देगा यारी, अके झूठी के तई दोनों हैं ख्वारी।

अमीन एक सामाजिक प्राणी भी था। अतः हास्य व्यंग्य के भावों से भी पूर्ण था। अपने समकालीन कवि मोहम्मद फतेह के प्रति वह कहता है[१५]:

अमीन पीवे प्याला मस्त होवे, रकीब अफसोस खा कर लुप्त होवे।

× × ×

अमीन कूं दे प्याले हुए खरम, रकीबां तिलमिला के खाए सब गम।

× × ×

मुराद दिल के भीतर है सो पावे, पै आए रकीबूं के दकावे।
रकीबां देख उस कू जल मरे सब, बोत अफसोस मलमल करे सब।

रचनाएँ—शेख अमीन की विविध रचनाओं का उल्लेख किया गया है जिनका विवरण निम्नलिखित है--

(१) **तवल्लदनामा**--यह उनकी दूसरी मसनवी है। इसमें हजरत मोहम्मद साहब के जन्म से लेकर मृत्यु तक का विवरण पद्यबद्ध है। यह चार भागों में है। प्रथम में जन्म तथा बाल्यावस्था, द्वितीय में युवावस्था, हिजरत, हज़रत खदीजा से विवाह, तृतीय में मेराज शरीफ और चतुर्थ में शहादत का विवरण अंकित है। इस प्रसंग में अपने युग की सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज का वर्णन भी किया गया है। कहीं-कहीं सुन्दर व्यंग्य भी है। इसका उल्लेख डॉ० मोहम्मद अब्दुल हमीद फारूकी साहब ने भी विस्तार से किया है।[१६]

(२) **नातिया क़सीदा**--इसका उल्लेख हकीम शमसुल्लाह कादरी साहब ने किया है, इसकी रचना १६८७ ई० में बताई गई है और इसकी एक हस्तलिखित पोथी का भी उल्लेख किया है।[१७] इसकी भाषा गूजरी है। इसका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता और न डॉ० फारूकी ने ही इसका परिचय दिया है।[१८]

(३) **साकीनामा**--इसका उल्लेख मोलवी करीमुद्दीन साहब ने किया है[१९] किन्तु डॉ० फारूकी ने इसको स्वतंत्र ग्रंथ नहीं माना है फिर भी इससे उद्धरण दिया है। प्रत्येक शीर्षक का आरम्भ 'साकीनामा' से हुआ है। स्वतन्त्ररूप प्राप्त नहीं होता।

(४) **यूसुफ-ज़ुलेखा**—यह अमीन गुजराती का महान प्रेमाख्यान है। यह गूजरी भाषा में लिखा गया दक्खिनी का दूसरा महत्वपूर्ण काव्य है। इसमें यूसुफ-जुलेखा का विश्वविश्रुत सर्वोत्तम आख्यान बड़ी ही सरस शब्दावली में अंकित किया गया है। इसमें कुल ४११४ शेर हैं और इसकी रचना तिथि १६९७ ई० है। इसके सम्बन्ध में कवि ने स्वयं व्यक्त कर दिया है[२०]:

ग्यारह सौ के ऊपर नौ जो गुजरे, बरस हज़रत मोहम्मद मुस्तफा के।
बयेता चालीस पर चौदह और सौ, है लिखी गोधरे के बीच सुन लो।

× × ×

जमादिउल अव्वल में इतवार के रोज़, इन्हीं तारीख दूजी वे दिल अफरोज़।
सुवा के वक्त लिखा है आमीं ये, इलाही तैस मोहम्मद सबके तईं ये।

यह बड़ी लोक प्रिय रचना है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ आज भी विविध पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। डॉ० मोहम्मद अब्दुल हमीद फारूकी ने इसकी तीन प्रतियों का उल्लेख किया है।[२१] इनमें प्रो० नजीब अशरफ नकवी की व्यक्तिगत पोथी सर्वोत्तम है जो

अब अंजुमन इस्लाम उर्दू रिसर्च इंस्टीटूट बम्बई के पुस्तकालय में आ गई है। इसी का उपयोग इस लेखक ने भी किया है। इसमें कुल २६८ पृष्ट हैं जिसकी नाप ६×६ इंच है। प्रत्येक पृष्ट पर दस पंक्तियाँ हैं। यह लगभग २०० वर्ष पुरानी प्रतीत होती है। इसके लेखक का नाम हिदायतुल्लाह वल्द मुल्ला फैजुल्लाह है। जोगन देवी गुजरात का निवासी था।

इसकी दूसरी दुर्लभ प्रति कलकत्ता के एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल में विद्यमान है जो कभी फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता के संग्रह में थी। इसकी संख्या १०७ है और जिसमें १४१ पन्ने हैं। इसकी नाप २१×१३×३ से० मी० हैं। यह मूल प्रति की रचना तिथि के केवल ३१ वर्ष बाद की है। इस दृष्टि से इसका विशेष महत्व है। पोथी के प्रारंभ में लेखक का नाम और लेखन तिथि अंकित है। इसका किसी ने उल्लेख नहीं किया है। लेखक को बड़े सौभाग्य से ही इसका दर्शन हो सका था जिसका विधिवत उपयोग भी किया गया है।

डॉ० मोहम्मद अब्दुल हमीद फारूकी ने इसका सम्पादन उर्दू में कर लिया है किन्तु वह अभी तक प्रकाशित नहीं हो सकी है। लेखक ने सभी प्रतियों की सहायता से इसका सम्पादन और नागरीकरण कर लिया है किन्तु यह रचना भी अभी तक प्रकाशित नहीं हो सकी है। प्रो० नजीब अशरफ नदवी ने इसको क्लासिकल रचना माना है जो भारत में दक्खिनी हिन्दी अथवा प्रादेशिक उर्दू के जन्म और विकास का विधिवत ज्ञान कराने वाली एक मूल्यवान कड़ी है। समाज का ऐतिहासिक पक्ष स्पष्ट करने में इसका विशेष स्थान है।

काव्य का आधार एवं उद्देश्य—उक्त कथानक का धार्मिक महत्व है और यहूदी, इसाई तथा इस्लामी साहित्य में भी इसको लोकप्रियता प्राप्त है। संसार की अनेक भाषाओं में इस सर्वोत्तम आख्यान को आधार मान कर प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना की गई है। इसकी रचना फारसी की मसनवी पद्धति पर हुई है। फारसी कवियों ने ही सर्वप्रथम इसको प्रेमाख्यान का रूप दिया था। जो सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य नहीं था। इस उद्देश्य से शेख मोहम्मद अमीन गुजराती ने दकनी भाषा या गूजरी में दूसरी बार इसको पद्यबद्ध किया। सामान्य पाठक को इससे परिचित कराने के लिए ऐसा किया गया था। कवि ने कहा भी है[२२]:

हर एक जागे किस्सा है फारसी में, अमीं इसको उतारे गूजरी में।

× × ×

इलाही तू मुझे तौफीक जो दी, तो मैं बी फारसी से गूजरी की।
मेरा मतलब है यूँ सब कोई जाने, हकीकत उसकी सब कोई पछाने।
पड़ा होवे जो कोई फारसी को, वही जाने हकीकत ऐसे दल सों।
अने जो ना पड़ा होवे बेचारा, सो क्या बूझे अनू का इश्क सारा।
मैं इसके वास्ते कैता ये गूजरी, हक़ीकत सब अदा होवे अनू को।

कवि की दृष्टि में यश-कीर्ति की भावना व्यक्ति की स्वाभाविक अभिलाषा है। कवि अमीन में इस प्रेमाख्यान द्वारा अपना नाम अमर करने की लालसा थी। उसने यादगार के रूप में इसकी रचना की है। इसको उसने स्पष्ट भी कर दिया है[२३]:

अमीं ने गूजरी कैती सूँ यों कर, कि आए नहीं रेह दुनिया के भीतर।

× × ×

निशानी तव रहेगी ऐ सोखन रे, जो कुछ बोला अमीं मीठे बचन रे।

परमात्मा पर पूर्ण आस्था रख कर ही उसने उस काव्य की रचना की थी। उसकी अभिलाषा है कि सुरुचि सम्पन्न पाठक इसको पूर्ण विश्वास से पढ़े। उसने कहा भी है[२४]:

सखुन मेरे तू कर बैठो इलाही, इसे बैठे कि अनू बैठी मिठाई।
शुक्र मिसरी के मानिन्द है सुखनवर, बलक ऊन के अगल शरमाए शक्कर।
इलाही ख़लक के दिल दे मुहब्बत, कि उसके तईं पड़े सब बा मशक्कत।
न छूटे बात सूँ उसके सउज़ात, रखे सब लोग इस कूँ अपने सात।

इस्लाम में पूर्ण आस्था रखते हुए, मूर्तिपूजा का विरोध, बहुदेवोपासना के स्थान पर एकेश्वरवाद और इस्लाम का प्रचार, सूफी सिद्धान्तों के प्रचार, अद्वितीय प्रेम कहानी को सर्वसाधारण में सामान्य करने, अपनी कीर्ति स्थापना के उद्देश्य से इसकी रचना की गई थी। कवि का मूल आधार कोरान शरीफ ही है किन्तु अन्य आधारों से भी प्रेरणा लेकर आख्यान की सर्वोत्तमता की पूर्ण रक्षा की गई है।

संदर्भ-संकेत

(१) दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ ३००। (२) तबकातुश्शोअरा, भाग ३, पृष्ठ ७। (३) यूसुफ जुलेखा--अमीन गुजराती भूमिका, पृ० ६२। (४) तारीख जबान उर्दू, पृ० ५१। (५) उर्दू-ए-कदीम, पृ० ५२। (६) यूरोप में दकनी मख़तूतात, पृ० ३३९। (७) वही, पृ० ३३८। (८) यूसुफ-जुलेखा--अमीन गुजराती, भूमिका। (९) पंजाब में उर्दू, पृ० २२। (१०) यूसुफ-जुलेखा—अमीन गुजराती, अंजुमन इस्लाम उर्दू इंस्टीटूट बम्बई की प्रति, पृ० २५। (११) वही, पृ० २९३। (१२) यूसुफ-जुलेखा--अमीन गुजराती, भूमिका, पृ० ६३। (१३) यूसुफ-जुलेखा—अमीन गुजराती, पृ० ३६ (उक्त प्रति)। (१४) यूसुफ-जुलेखा—अमीन गुजराती, अंजुमन इस्लाम उर्दू इंस्टीटूट बम्बई की प्रति, पृ० ७७, ९२, २४६, ५८, ६५, ८०। (१५) वही, पृ० ५८, ६५, ८०। (१६) यूसुफ-जुलेखा—अमीन गुजराती, संपादित--डॉ० फारूकी, भूमिका, पृ० १३३। (१७) उर्दू-ए-कदीम, पृ० ५२। (१८) यूसुफ-जुलेखा—अमीन गुजराती--डॉ० फारूकी, भूमिका, पृ० १३७। (१९) तबकातुश्शोअरा, भाग ३, पृ० ७। (२०) यूसुफ-जुलेखा—अमीन गुजराती, अंजुमन इस्लाम उर्दू इंस्टीटूट बम्बई की प्रति, पृ० ८९७। (२१) नवाए अदब—त्रयमासिक पत्रिका, जनवरी १९५५ ई० बम्बई, पृ० ६। (२२) यूसुफ-जुलेखा--अमीन गुजराती, अंजुमन इस्लाम उर्दू रिसर्च इंस्टीटूट बम्बई की प्रति, पृ० १५ और २९३। (२३) वही, पृ० २९६। (२४) वही, पृ० १३५।

श्रृंगार-काव्य के कुशल कलाकार —महाकवि सुन्दर

स्वामी वाहिद काज़मी

हिन्दी के अमर कवि बिहारी की जन्म-भूमि तथा तानसेन व उनके गुरू गोविन्द स्वामी जैसे संगीतज्ञों की साधना-स्थली ग्वालियर नगर की बड़ी गौरवशाली परम्परा साहित्य एवं संगीत के क्षेत्र में रही है। ऋषि गालव एवं मोहम्मद ग़ौस जैसे परमज्ञानी संतों की चरण-धूलि का इसने स्पर्श पाया है और किले के अधिपति राजा मानसिंह जैसे गुणवान व उदार शासक भी इसने देखे हैं। इस क्षेत्र का चप्पा-चप्पा ऐसे व्यक्तियों की जन्म-भूमि या साधना-स्थली रहा है जो आज भले ही काल की गर्त में समा गये हों, किन्तु जो अपने समय में काव्य एवं अन्य ललित-कलाओं के क्षेत्र में जगमगाकर इस भूमि को गौरवान्वित कर रहे थे। यहां ऐसे ही एक महाकवि का परिचय दिया जा रहा है जिसे अब हमने, या हिन्दी काव्य-जगत ने, भले ही विस्मृत कर दिया हो, किन्तु जो अपने समय में अपनी काव्य-क्षमता के आधार पर एक प्रतापी मुगल सम्राट् द्वारा बहुत अधिक सम्मानित व पुरस्कृत हुए थे।

इस प्रतिभा सम्पन्न और रचना-कुशल कवि का नाम सुन्दर था। (यह इनका उपनाम भी हो सकता है) उन्होंने श्रृंगार-काव्य का एक ग्रंथ लिखा है जो इनके श्रेष्ठ कवित्त्व का एक अच्छा प्रमाण है। इस एक ग्रंथ के अतिरिक्त उनकी कोई और रचना, कम से कम हमें अब तक अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं हुई है। इस ग्रंथ में कवि ने अपने बारे में बताते हुए कहा है—

> विप्र गुवालियर नगर को, वासी है कविराज।
> तासौं साहि दया करैं, सैद गरीबनवाज॥

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनका मूल निवास-स्थान ग्वालियर ही था और वे एक ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे। एक दोहे में उन्होंने इतना और भी बताया है—

> नगर आगरो बसत है, जमना तट सुभ थान।
> तहां पातिसाही करैं, बैठे साहिजिहान॥

इस दोहे से यह संकेत मिलता है कि जब वे अपना ग्रंथ रच रहे थे तो आगरा में, जमना-तट पर, किसी स्थान में रहते थे। आगरा में उस समय तत्कालीन शासक शाहजहाँ का दरबार लगता था। फिर कवि ने तत्कालीन शासक के प्रशस्तिगान की परम्परानुसार शाहजहाँ का भी यशोगान किया है।

वे कोई साधारण स्तर के राज्याश्रय प्राप्त कवि नहीं, बल्कि उससे कहीं अधिक उच्चकोटि के सम्मान व पुरस्कार प्राप्त कवि थे। यहाँ तक कि 'सिरोपा' जो सम्राटों द्वारा अपने अमीरों को दिया जाने वाला एक बड़ा सम्मान था, वह भी इन्हें प्राप्त हुआ था। वे केवल उसके दरबारी कवि नहीं अपितु उसके दरबार के राजकवि भी थे। इससे जहाँ शाहजहाँ की हिन्दी काव्य रसिकता एवं गुण-ग्राहकता का परिचय मिलता है वहाँ यह सम्मान कवि की अपनी योग्यता का भी द्योतक है।

कवि सुन्दर ने शृंगार विषयक एक बहुत ही उत्तम काव्य-ग्रंथ रचा है, जिसका नाम है 'सुन्दर-शृंगार'। यह ग्रंथ विशुद्ध ब्रजभाषा में है। इसके आधार पर यह अनुमान लगाया जाना कठिन नहीं है कि शाहजहाँ-काल में भी ब्रजभाषा काफी प्रगति पर थी और उसे राज-दरबार तक में स्थान प्राप्त था। इस ग्रंथ की रचना संवत १६४८ वि० कार्तिक मास शुक्ल पक्ष की षष्टमी तिथि, बृहस्पतिवार के दिन सम्पन्न हुई। जैसा कि इसके रचयिता ने निर्देश किया है—

संवत सोरह सै वषी, बीती अठालीत।
काति गुरू सुदि षष्टमी, रच्यौ ग्रंथ कर प्रीत॥

ग्रन्थ-रचना के कारण के बावत कवि ने जो उल्लेख किये हैं वे इस प्रकार हैं—

जब कवि कौ मनयौ बढ़्यौ, तब यह कियो विचार।
बरनौं नाइक नाइकनि, कीयौ ग्रन्थ विसतार॥
सुंदरकृत सिंगार है, सकल रसन कौ सार।
नाम धरयौ या ग्रंथ कौ, कवि सुन्दर-सिंगार॥

अपने इस ग्रंथ में कवि ने केवल तीन छंद-शैलियाँ चुनी हैं, दोहा, सवैया तथा कवित। इन सभी का प्रयोग उसने बड़ी ही कुशलता पूर्वक किया है। यों उसने सोरठा, छप्पय एवं त्रभंगी छन्दों का भी प्रयोग किया है, किन्तु समूचे ग्रंथ में उनकी संख्या नगण्य है।

जैसा कि उपरोक्त के एक दोहे से स्पष्ट है ग्रंथ का प्रमुख विषय नायिका-भेद वर्णन है जो शृंगार के आचार्य कवियों का सबसे प्रिय विषय रहा है। ग्रंथ में मुख्य रूप में कवि ने नायिका-भेद का ही वर्णन किया है जो कुल ग्रंथ के आधे से अधिक भाग में फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त शृंगार-काव्य से सम्बद्ध अन्यान्य प्रसंग जैसे मान-भेद, अनुराग-भेद, हाव-प्रसंग, विरह-व्यथा, विप्रलंभ-प्रसंग, दर्शन-भेद आदि को सम्मिलित करके इन पर अपने अनुसार विचार प्रकट किये हैं। कदाचित् ग्रंथ की सम्पूर्णता को दृष्टिगत रखते हुए अन्त में

उसने कुछ छंदों में नख-शिख भी वर्णन किये हैं। तात्पर्य यह कि सुन्दर कृत **'सुन्दर-शृंगार'** अपने आप में शृंगार काव्य पर एक सुव्यवस्थित तथा सम्पूर्ण ग्रंथ है।

कवि ने अपने कथन के लिये जिस प्रसंग को भी लिया है तो पहले उसके लक्षण (या कहें परिभाषा) एक अथवा दो दोहे में बता दी है फिर सोदाहरण उसका वर्णन (या कहें व्याख्या) एक सवैया अथवा कवित्त छंद में प्रस्तुत की है। आरम्भ से अन्त तक कवि ने यही वर्णन-पद्धति बरकरार रखी है। कवि की वर्णन-पद्धति तथा उसके काव्य का रसास्वादन कराने हेतु यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। स्वकीया नायिका के लक्षण बताते हुए वह कहता है—

लक्षण— सुक़ीया कहिये आपनी, परकीया पर नार।
सामान्या जासों कहें, ता सौ धन सौ द्वार॥
ये गुन हैं सुकियान के, वरनत है कविराज।
पति की अति सेवा करै, सील सुधाइ लाज॥

अब स्वकीया के एक भेद मुग्धा नायिका के दो उपभेदों, ज्ञात यौवना एवं अज्ञात यौवना, का वर्णन उसने इस प्रकार किया है—

अग्यातजोवना लछन :

अपने तन में जोवन आये, जो नहिं जानै बाल।
ताहि कहत अग्यात जोवना, सुंदर गुनी रसाल॥

उदाहरण :

दाई सौं जाइकै धाय कह्यौ कहूँ धाय कौ पूछि यौं कोऊ ढई है।
बैठि रही निश्चत कहा सुनि मोहि सबै सुध भूल गई है॥
सुंदरि देख डराति हिये उपजी उर मांझ उपाधि नई है।
काची कली सी ही काल परी अब छोटी सुपारी सी आज भई है॥

ग्यात जोवना लछन :

जोवन अपनी देह में, आयौ जाने वाम।
कवि सुंदर तासौं कहे, ग्यातजोवना नाम॥

उदाहरण :

छातिन तंग लखै दुलही सु अलीनिहु क़ी मनसा ललचानी।
ऐसी नवेली कै नांइ कहूँ त्रिय आपस में यौं ही बतरानी॥
सुंदर जोवन रूप सराहति, सुंदर आंखिन हूँ में लजानी।
डीढि बचाय सखीहुन की निज देह को देख तिया मुसकानी॥

स्वकीया, परकीया तथा सामान्या (गणिका) इन तीनों के भेद-उपभेद वर्णन करने के पश्चात् जब कवि ख़ंडिता, कलहतंरिता, प्रवस्या, अभिसारिका, वासकसज्जा आदि आठों प्रकार की नायिकाओं का वर्णन करता है तो उसने प्रथम एक दोहे में इस प्रकार की किसी नायिका के लक्षण वता दिये हैं और पहिले वर्णित तीनों नायिकाओं तथा उनके भेदों

की उदाहरण सहित व्याख्या कर दी है। आवश्यकतानुसार कवि ने कहीं-कहीं एक प्रकार की नायिका को एक से अधिक—दो अथवा तीन छंदों में भी व्याख्यायित किया है। वैसे सामान्यतः उसने एक ही सवैया या कवित्त में पूरा वर्णन प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। रचयिता की इस वर्णन-पद्धति को समझने हेतु यहाँ अभिसारिका नायिकाओं के उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

लक्षण : बोल उठावे पिय को पीय पैं आपुहि जाय।
सो कहिये अभिसारिका, कहै महा कविराय॥
रीत यहै अभिसारिकनि की, समयैं समत सिंगार।
साहस संकौ कपट चातुरी, लियें करैं अभिसार॥

तदुपरान्त उनके भेदों के अनुसार वह प्रत्येक प्रकार की अभिसारिका की व्याख्या इस प्रकार करता है—

स्वकीया-मुग्धा अभिसारिका :

पौढ़े होइ पलिका पर पियु पैं रावरे ओट दिये दुपटा की।
लाइ लिवाइ अली नवला कहूँ बातें बनाय सटाके नटा की॥
जेहरि कौ खटकौ जब ही भयो सुंदर देहटी आई अटा की।
आगें तैं अंग तरंग उठी मनमोर कौं ज्यौं घनघोर घटा की॥

मध्या अभिसारिका का वर्णन बिलकुल अस्पष्ट सा है—

जौ लौं हौं न चली तौ लौं कैसी तैं,
नवेली हा हा चलि आली लेत मोहि जाइकैं।
आइ उठ मंदिर ते कौन चाप चाइन सौं,
सोइ देखी आइ रही······चुपचाइ कैं।
बैठ रही कहा अबै गौनाइत की सी नाईं,
घूंघट को सुन्दर संकोच अपनाइ कैं।
लेइ नहिं हीये के हुलास पूरे करि......
पीतम को अधर पियूख रस पाइ कैं।

प्रौढ़ा अभिसारिका :

पहलै भयौ यह कैसौ उदौ कवि सुन्दर मन्दिर के चहुँ ओरनि।
पुन आगे ही आय सुहाइ रह्यौ मर वेहु सुगन्ध झकोरनि॥
बिछिया घुंघरी घूम के लंहगा सुनि मन में मधुरी घनघोरनि।
मुसकात पैं आपुहि आइ गई है जिवाइ लियैं तिय द्वै डग मोरनि॥

परकीया अभिसारिका का वर्णन तीन सवैयों में है, एक निम्न प्रकार है—

स्याम-संदेसो सखी पैं सुन्यौ सुनतैं सब सुन्दर साहस बाढ़े।
चौंकि कैं भूषन छोरि धरे बिछियान के वेग दे कांकर काढ़े॥

घूंघरी की बट डोरी कसी अंगिया हू के बंध कसे गहे गाढ़े।
जाय पहौंची तहां वह पयारो जहां हरि हेरत हैं मधु ठाढ़े ।।

गणिका अभिसारिका :

सुंदर सकल सिंगार सजि, चली बाल रहे आस।
जाय आज मन मान तौ धन लेउं पिया के पास ।।

सुरतांत-प्रसंग वर्णन करने की भी एक श्रृंगार-काव्य शास्त्रीय परम्परा रही है। परन्तु यह वर्णन जिस प्रकार से किये जाते हैं उनमें अधिकतर बहुत ही निम्न स्तर के कामोद्दीपक हाव-भाव एवं खुली काम-क्रीड़ाओं के चित्रण प्रस्तुत करते हुए उन्हें एक प्रकार से अश्लील बना दिया जाता है (जिन्हें श्रृंगार-काव्य में भले ही कुछ भी समझा जाये, होती वह कवि की अपनी मानसिक कामुकता की अभिव्यक्ति ही है)। कवि सुन्दर ने भी सुरतांत-प्रसंग वर्णन किये हैं, किन्तु औरों की अपेक्षा इनके सुरतांत वर्णन कुछ विशिष्टता लिये हुए है। पहले तो यह कि उन्होंने ऐसे वर्णनों में कहीं भी अश्लीलता का पुट नहीं दिया। दूसरे यह कि जहाँ अन्यान्य कवियों ने काम-क्रीड़ा-रत नायक-नायिका का चित्रण किया है वहाँ इन्होंने प्रथम मिलन-रात्रि के पश्चात होने वाली प्राप्त-वेला में नायिका की स्वाभाविक मनोदशा अथवा उसकी मनोहारिणी छवि का बड़ी कुशलतापूर्वक चित्रण किया है। यह दोनों बातें इनको परम्परागत सुरतांत वर्णनों से एक तरह से पृथक कर देती हैं और यह कहा जा सकता है कि इस प्रसंग का वर्णन इनके द्वारा अपने एक अलग ही ढंग से प्रस्तुत किया गया है जो औरों की कोटि तथा स्तर से बिल्कुल भिन्न है। एक उदाहरण से यह बात सुगमतापूर्वक समझ में आ सकती है। पहले नवोढ़ा-नायिका का सुरतांत वर्णन प्रस्तुत है जिसमें उसकी मनोदशा का सहज चित्रण हुआ है—

गौने की रात के भोर ही कोने में बैठ रही दुलही अनबोलें।
छाती सौं हाथि छिपाय कै सुंदरि नारि नवायें दुरायें कपोलें ।।
देखन को जुरि आईं सबै जहाँ नंद जिठानी करैं जु किलोलें।
येक हँसै ईक बांह गहे इक आँचल ऐंचि कैं घूंघट खोलें ।।

मनोदशा की भाँति नायिका की अलसाई सी छवि का चित्रण इन्होंने जिस ढंग से प्रस्तुत किया है उसके लिये प्रौढ़ा सुरतांत का यह छंद पठनीय है—

सोवत ह्वै रति केलि कीये पति संग प्रिया अति ही सचुपाये।
देखि सरूप सखी सव सुंदर रीझि रहीं ढ़िग सी टकुलाये ।।
कंचुकी चोवा लगै कुच ऊपर छूटि रहीं लट यौं छवि छाये।
बैठयो ह्वै ओट मनो गजखाल महेश भुजंगनि अंग लगाये ।।

अन्य श्रृंगारी कवियों की अपेक्षा इनकी एक यह भी भिन्नता देखी जा सकती है कि इन्होंने स्वकीयाओं के अतिरिक्त अन्य नायिकाओं का सुरतांत-वर्णन नहीं किया। कदाचित यह इसलिये भी किया हो कि परकीया एवं सामान्या के सुरतांत-चित्रणों में ही कुछ सरलता-पूर्वक अधिक खुली काम-क्रीड़ायें दर्शायी जा सकती हैं।

सुन्दर कवि ने अपने 'सुन्दर-शृंगार' में जहाँ काव्य-शास्त्रीय मतानुसार नायिकाओं के भेदों पर विचार प्रकट किये हैं वहाँ इन्होंने काम-शास्त्रीय मत के आधार पर रमणियों के भी भेद अति संक्षेप में वर्णित कर दिये हैं। प्राचीन काम-शास्त्रज्ञों के मतानुसार इन्होंने भी चार ही प्रकार की कामिनियाँ बताई हैं, अर्थात् पद्मिनी, शांखिनी, चित्रणी एवं हस्तिनी। वर्णन शैली यहाँ भी वैसी ही अपनायी है जो पूर्वोक्त प्रसंगों की है अर्थात् पहले एक दोहे में उनके लक्षण देकर फिर सवैया या कवित्त द्वारा उसका विवरण दिया है—

शंखिनी-लक्षण : तन दीरघ दीरघ भुजा, कर पद दीरघ वाम।
चलत चाल उताल अति, जानि संखनी नाम॥

व्याख्या : ... ... मोटी कटि छीन नख,
टेढ़ी चितवन कुच छोटे खोटो मन है।
जोनि में विगंध कामजल घनी घनैबार,
उतावली चलै बोले गाजत यौं घन है।
रातें पाट भाव नख सुरत चलावैं चारु,
तातौ गात दया हीन रोस ही सौ पन है।
दीरघ हैं दांत पाँय थोरो न बहुत खाय,
ऐसे जाके लछिन सोई संखनी कौ तन है।

यह बात समझ में नहीं आती कि शृंगार-काव्य में कामशास्त्र के आधार पर रमणियों के भेद वर्णन करने की आवश्यकता क्यों अनुभव की गई? सो भी काव्य-शास्त्रोक्त नायिका भेद विषयक ग्रंथ में। ऐसे तो उल्लेख मिलते हैं कि पूरा काम-शास्त्र ही काव्य-बद्ध किया गया है, किन्तु इस प्रकार के उदाहरण कम ही दृष्टिगोचर होंगे कि काव्य-शास्त्रीय नायिका भेदों के साथ-साथ काम-शास्त्रीय नायिका-भेद भी उसी एक ग्रंथ में वर्णित हों। संभव है कि उस समय ऐसी कोई परिपाटी रही हो अथवा कवि के आश्रयदाता की ऐसी इच्छा हो।

नायिका-भेदों के वर्णनों के पश्चात् नायक-भेद के प्रसंग से भी कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं जिससे इनके रचना-कौशल का कुछ और भी अनुमान किया जा सके। पति, उपपति तथा वैशिक। इन तीन प्रकार के नायकों में से वैशिक नायक का वर्णन इस तरह किया गया है—

लक्षण : जो नाइक गति कानि सौं, करै सदा संभोग।
बेसिक तासौं कहत हैं, धीर गुनी सब लोग॥

उदाहरण : कुंदन सौंतन चंद सौं आनन काननि यौ मुकतान सौं वारी।
देखत आरसी पाननि खात भुजा मानो सुंदर भाई उवारीं॥
ऐंठी सी आंख अमैठी सी भौंहनि पैंने कटाछ लटैं लट कारीं।
छैल छवीली सु कैसे मिले छवि जाकी मैं ऐसी अनेक निहारीं॥

नायिका-नायक भेद वर्णन करने के साथ-साथ कवि सुन्दर ने शृंगार-विषयक अन्यान्य प्रसंग जैसे मान-भेद, अनुराग, विरह-व्यथा, दर्शन, विप्रलंभ, हाव-भेद, शृंगार-भेद आदि

भी यथोचित वर्णन किये हैं। इनमें से कुछ के उदाहरण प्रस्तुत किया जाना प्रसंगोचित प्रतीत होता है। सर्वप्रथम मान-भेद के अन्तर्गत लघु, मध्यम एवं गुरु इन तीन प्रकार में से गुरु-मान का नमूना बहुत ही उत्तम है—

लक्षण : पति आवे रितु अंत करि, तिय तकि चिन्ह रिसाय।
उपजत है गुरु मान तहं, छूटै पकरै पांय॥

उदाहरण :
लाल के भाल लगौ लख जावक पावक से भये नैन प्रिया के।
नाह निहार निहोरन लागे नये द्रग नैक तऊ न तिया के॥
सुंदर पांयन प्यारौ पड़ै पै गये बट ऐसै हुलास हीया के।
फूल गयौ मन भूल गई रिस टूट के बंध गये अंगिया के॥

अब अनुराग वर्णन की बानगी भी देखिये

अनुप्रास का—

लक्षण : कै देखे ते कै सुने, चित को लागे आग।
तासौं कविजन कहत हैं, द्वै विध को अनुराग॥

व्याख्या :
चाइन सौं चौंप ही चाइन की चितु हो चहुधां जिन चैननि ही सौं।
सुंदर जाके रहे रस पागी सुने ते सुधारस बैननि ही सौं॥
बैठि सुबाल अलीनि में लाल चलै ढ़िग ह्वै लख सैननि ही सौं।
डीठि कपोलनि छीनत सी यौं कियौ मनु चुम्बन नैननि ही सौं॥

श्रृंगार-काव्य-शास्त्रानुसार माने गये विभ्रम, कुलटमति, लीला, हेला, मुग्धा, हाव, तपन आदि सोलह प्रकार के हावों के सुन्दर कवि ने बड़े ही सजीव और सरस चित्रण प्रस्तुत किये हैं। स्थानाभाव से सभी के नमूने यहाँ नहीं दिये जा सकते, तथापि एक नमूना दिये जाने का लोभ संवरण नहीं हो पा रहा है—

लक्षण : आँसू रिस डर विकलता एक ही साथ जु होय।
कंप हंसी पिय तन तकित, कलिक चित कहि सोय॥

व्याख्या :
गौन भये दिन कैऊ भये कहि सुन्दर नेह दुहूं में नवीनो।
खेलति काम-किलोलनि में ललनी को सरूप लला लख लीनो।
कोउ जो अंग दबौ तिय कौ तब एक ही बार सबै यह कीनो।
रोइ रिसाइ डटी घहरानी सखी अकुलाइ चितै हँस दीनो।

विप्रलंभ श्रृंगार के अन्तर्गत अलग-अलग प्रकार की जो दस दशायें श्रृंगार-काव्य ग्रन्थों में वर्णित है वे ही सुन्दर कवि ने भी वर्णन की है। यथा अभिलाषा, गुन-कथन, स्मृति, चिंता, जड़ता, उद्वेग, प्रताप, व्याधि तथा उन्माद। इन नवों दशाओं का इन्होंने यथोचित वर्णन किया है और दशम दशा अर्थात मरण को यह कहकर छोड़ दिया है कि—

दसौं निधन है कवि कहत, जामे कछू न सवाद।

इन अवस्थाओं में से यहाँ प्रस्तुत है अभिलाषा का वर्णन—

लक्षण : पिय के जिय तिय मिलन की, होत जहाँ अति चाह ।
सुन्दर तासौं कहत हैं, अभिलाषहि कवि नाह ।।

उदाहरण : को ही तेरे साथ काल्ह सुन्दरताइ सी ग्वालि,
बांकी चितवन चाल जी से न टरति है ।
क्यौंहू वह आवे कहो कैसे अब, अब ही ते,
सूधे हू न छाती पर आंचर धरति है ।
हा हा हँसि करि देखि मानि है तो मान है,
न तो यह जानि है कै हाँसी ये करति है ।
आली रही दई ऐसी अब ही कहाँ ते भई,
गौनैंहू न गई लाइ कैसे कै परति है ।

नख-शिख वर्णन के अन्तर्गत अलकावलि शोभा का चित्रण भी दर्शनीय कहा जा सकता है—

मानो भुजंगिनी कंज चढ़ी मुख ऊपर एक रही अलकैं त्यौं ।
कारी महा सटकारी है ऊपर भींजि रही मिलि सौधनि ही सौं ।।
लटकी लट वा लट की ढिग और भई वट के छवि आननि की यौं ।
अंक वहै दियौ दूजौऊ फेर कै होत रूपैयन ते मोहरें ज्यौं ।।

कवि सुन्दर की शृंगार-रचना 'सुन्दर-शृंगार' से उद्धरित उनके काव्य के जो कुछेक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा सके हैं, उनके अवलोकन से कवि की श्रेष्ठ रचना-प्रतिभा, ब्रजभाषा पर अधिकार, अलंकार-योजना, अभिव्यक्ति की सरसता तथा प्रसंग को काव्यात्मक रूप से प्रस्तुत करने आदि जैसे तथ्य स्वतः अपना परिचय दे रहे हैं। इसलिये इस सीमित स्थान में हमने अपनी ओर से उनके काव्य के शास्त्रीयपक्ष अथवा भाव, या किसी ऐसी ही वस्तु की विवेचना नहीं की ।

अन्त में उल्लेखनीय है कि उक्त ग्रन्थ 'सुन्दर-शृंगार' की एक हस्त-लिखित प्रति—जो वस्तुतः उसकी प्रतिलिपि है—हमें आतरी (म० प्र०) के एक आशु कवि श्री प्रभाकर चतुर्वेदी के पास देखने में आई। यह प्रति ७" × ५" के आकार वाले केवल ७८ पन्नों पर, मध्यम कलम द्वारा काली स्याही से, लिपिबद्ध है। इसके लिपिकर्ता ने अपना नाम लाला सीताराम तथा प्रतिलिपि-काल कार्तिक बदी १ संवत् १८४७ वि० प्रकट किया है। अर्थात् वर्तमान प्रति भी कोई एक सौ छियासी वर्ष पुरानी है। इस प्रति का लिपिकार ब्रजभाषा काव्य का प्रेमी भले ही रहा हो, किन्तु हिन्दी का अच्छा जानकार नहीं जान पड़ता। इसलिये इसमें बहुत कुछ अशुद्धियाँ व त्रुटियाँ भी हैं। कहीं-कहीं तो एकाध अक्षर नहीं बल्कि पूरा शब्द ही छूट गया है तो किसी-किसी स्थान पर एक ही शब्द दो या तीन बार भी लिख दिया गया है जिसके कारण इसे पढ़ने में नहीं तो समझने में अवश्य कठिनाई होती। तथापि उक्त प्रति के आधार पर ही यह लेख प्रस्तुत करना संभव हुआ है क्योंकि कम से कम हमें अब तक सुन्दर कवि की कोई और रचना दृष्टि में नहीं आई है।

जीवनराम कृत "धर्म दिवाकर"

●

डॉ० नरेश

सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले पंजाब में हिन्दी कविता की अखाड़ेबाजी के जो प्रमाण मिल रहे हैं, उनसे यह अनुमान होता है कि यहाँ हिन्दी कविता की सुदीर्घ परम्परा रही होगी। इस परम्परा के एक महत्त्वपूर्ण कड़ी पंडित चन्दूलाल नामक कवि थे, जिनकी तीन हस्तलिखित कृतियाँ मैं मुद्रितरूप में प्रस्तुत कर चुका हूँ ।[1] उसी शृंखला की एक अन्य कड़ी हैं, चन्दूलाल के शिष्य पंडित जीवनराम । उनके हस्तलिखित ग्रन्थ 'धर्म-दिवाकर' में उनकी भक्ति तथा नीतिपरक रचनाएँ संकलित हैं । अवतारवाद के सिद्धान्त में विश्वास रखते हुए, जीवनराम प्रभु के विविध रूपों की कल्पना करके, उनकी स्तुति एवं वन्दना करते हैं । निष्ठापूर्वक प्रभु का गुणगान करते हुए, कवि का उद्देश्य यह स्थापित करना है कि मोहमाया रूपी यह जगत् अस्थिर तथा अस्थाई है । जीव की सद्गति इसी में है कि वह मोहमाया के भ्रमजाल से सतर्क रहकर अपने स्रष्टा एवं सृष्टि के नियंता को प्रतिक्षण याद रखे तथा निरन्तर आराधना के द्वारा उसकी प्रसन्नता प्राप्त करने में लगा रहे । भवसागर से पार उतरने तथा मुक्ति प्राप्त करने में केवलमात्र 'उसी' का नाम सहायी हो सकता है, अन्यथा अहम् के वशीभूत होकर जीव बार-बार जन्म लेता तथा मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। आवागमन के इस चक्र से केवल उसकी अनुकम्पा से ही मुक्ति मिल सकती है तथा उसकी अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए शुद्ध आचरण एवं भक्ति-भाव की आवश्यकता होती है ।

शुद्धाचरण की बात करते ही, कवि की ये रचनाएँ नीति-परक हो जाती हैं । वर्णवाद में विश्वास रखते हुए जीवनराम ब्राह्मणों को पुनः अपने मूलधर्म 'पठन-पाठन' की ओर प्रवृत्त करते हुए उनकी वर्तमान शोचनीय अवस्था पर खेद ही प्रकट नहीं करते अपितु उन्हें धिक्कारते भी हैं । माँस-मदिरा आदि के त्याग द्वारा वे मनुष्य को भक्ति-भावना से पूरित देखने को ही इच्छुक नहीं हैं अपितु परोक्ष रूप से, एक सुन्दर समाज की रचना की कामना भी अभिव्यक्त करते हैं । 'श्रवण कथा' के माध्यम से, माता-पिता के प्रति श्रवण की श्रद्धापूर्ण अनुरक्ति एवं उसका सेवा-भाव पाठक के सामने एक उत्तम सामाजिक आदर्श भी प्रस्तुत करता है ।

पुस्तक का आरम्भ 'गणेश-स्तुति' से होता है। गणेश को विघ्न-विनाशक माना गया है। वे देवों में अग्रगण्य हैं। कवि ने गणेश के जिस रूप की कल्पना की है, वह उनका परम्परात्मक मूर्त्त रूप है। उन्होंने मस्तक पर चन्द्रमा धारण किया हुआ है, उनके हाथों में शंख एवं गदा है तथा ऋद्धि और सिद्धि उनकी सेवा में प्रत्येक समय प्रस्तुत रहती हैं। इसी प्रकार शिव के जिस रूप की कल्पना कवि ने की है, वह भी लोक में प्रचलित उनका परम्परात्मक रूप ही है। उनके शिव के शरीर पर मृगछाला सुशोभित हो रही है, मस्तक पर चन्द्रमा धारण किए हुए हैं, गले में नरमुण्डों की माला है तथा हाथ में त्रिशूल रहता है। वे उमापति, गिरिपति, श्रीपति तथा भोलेनाथ हैं। 'रामलीला' में प्रथम पाँच रचनाएँ राम के लालित्यमयी रूप को पाठकों के सामने प्रस्तुत करती हैं। यहां राम का दूल्हा रूप हमारे सामने आता है, जिसमें उनके शीश पर मुकुट है तथा कानों में मकराकृत कुण्डल सुशोभित हो रहे हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत अन्य रचनाएँ राम के वन-गमन से सम्बन्धित हैं। यहाँ राम का गरिमामय रूप प्रस्तुत होता है। आज्ञाकारी पुत्र के आदर्श को स्थापित करते हुए श्री राम, लक्ष्मण तथा जानकी सहित वनों की ओर प्रयाण करते हैं तो प्रसंगवश उनकी माताओं एवं अयोध्या के प्रजाजनों के शोक का वर्णन भी कवि की अभिव्यक्ति का विषय बन जाता है।

जीवनराम के कृष्ण रसिक विहारी कृष्ण हैं। गोपियों तथा गउओं से स्नेह करने वाले, बाँसुरी की तान पर उन्हें मुग्ध करने वाले कृष्ण जब गोकुल छोड़ मथुरा चले जाते हैं, तो गोपियाँ उनके विरह में व्याकुल हो उठती हैं। व्रज में रहते हुए उनकी नाग को नथने की पराक्रमी घटना का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। 'हनुमान' इन रचनाओं में, राम के सेवक तथा उनके आज्ञाकारी दास के रूप में प्रकट होते हैं। शक्ति की प्रतीक 'दुर्गा' के वर्णन में, कवि ने केवल पर्वतों में स्थित उसके मन्दिरों के वर्णन तक ही अपनी काव्यकला को सीमित रखा है।

गो तथा ब्राह्मण पुरातन भारतीय संस्कृति के दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं। कवि को दोनों के प्रति श्रद्धा है तथा वे दोनों का उत्कर्ष देखने के इच्छुक हैं। गोहत्या के विरुद्ध लिखते समय कवि की लेखनी, गोबधिकों की निन्दा ही नहीं करती अपितु यहाँ कवि का स्वर प्रताड़ना से भर जाता है। 'गो-रोदन' के माध्यम से, कवि गो की दीनावस्था का वर्णन इस मार्मिक ढंग से करते हैं कि पाठक के अन्तर्मन में निहित श्रद्धाभाव जागृत हो उठे और वह गोरक्षा सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग हो उटे। भारतीय समाज के उत्सव तथा ऋतु-पर्व भी जीवनराम की कविता का आधार बने हैं तथा यहाँ कवि ने, प्रसंगवश, प्रकृति-चित्रण में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। वसन्त पंचमी, रामनवमी, होली तथा कृष्ण जन्माष्टमी सम्बन्धी रचनाओं में, जहाँ एक ओर प्रकृति-चित्रण उपलब्ध होता है, वहाँ दूसरी ओर जीवन्त समाज के आह्लादमयी रूप का हलका-सा चित्र भी उभर कर सामने आता है।

'विनय पदों' में, जीवनराम प्रभु के जगपालक, भक्त वत्सल, कृपालु एवं संकट मोचन रूप को निहार कर, उसके अनुग्रह की कामना करते हैं। पुरानों में उपलब्ध ईश-कृपा की

कतिपय कथाओं का हवाला देकर, जीवनराम प्रभु की कृपादृष्टि की याचना करते हुए अपने कष्टों के निवारण तथा भवसागर से अपने उद्धार की प्रार्थना करते हैं। 'आह्वान पदों' में कवि का उपदेशक रूप हमारे सामने आता है। जीव को उसकी विषय-लिप्सा के दुष्परिणामों का परिचय देकर, कवि उसे धर्म-परायणता एवं प्रभु-भक्ति की ओर प्रवृत्त करते हैं। शुद्धाचरण का उपदेश देते हुए, कवि जीवनराम माँस भक्षण तथा मदिरापान के निषेध पक्ष में अने : युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। यहाँ फिर एक बार उनके भीतर का ब्राह्मणत्व ऊर्ध्वमुख होकर पाठकों के सामने आता है। वे ब्राह्मण समाज को एक आदर्श समाज के रूप में देखने की आकांक्षा में, ब्राह्मणों को अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा की पुनर्प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करते हैं तथा उनके ह्रासोन्मुख वर्तमान पर व्यंग्यवाण बरसाते हैं।

प्रस्तुत संग्रह की अन्तिम रचना शोक-गीत है। कवि ने अपने काव्यगुरू पंडित चन्दूलाल के देहावसान पर अपने हार्दिक शोक को अभिव्यक्त करते हुए, उनके महाप्रायण-कालादि को भी कविता की पंक्तियों में सुरक्षित कर दिया है।

भाषा शैली

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा यद्यपि खड़ी बोली हिन्दी है परन्तु इस पर पंजाबी, बाँगरू, उर्दू, ब्रज तथा अवधी आदि भाषाओं का पर्याप्त प्रभाव भी दिखाई देता है। इसमें सन्देह नहीं कि कवि ने अनेकानेक तत्सम शब्दों (यथा—मूषक, मदन, श्रृंगीनाद, गिरिपति, श्रीपति, भकराकृत, कुच, गृह, केहरी, मोक्ष आदि) के प्रयोग द्वारा इन रचनाओं की भाषा को प्रांजलता प्रदान करने का प्रयास किया है, परन्तु व्याकरण की दृष्टि से देखा जाए तो पंक्ति-विन्यास में प्रान्तीय भाषाओं का प्रभाव इतना गहरा है कि भाषा की प्रांजलता कतिपय तत्सम शब्दों तक ही सीमित रह जाती है। छार, गौराँ, परस, रोस, घर, नेम आदि अनेकानेक तद्भव शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ कवि ने 'विप्रनैया' तथा 'स्वर्गबास' जैसे कतिपय तत्सम-तद्भव-मिश्रित शब्दों का प्रयोग भी किया है। लय के मोह में पड़कर, अनेक शब्दों का मनचाहा रूप परिवर्तन भी कवि ने किया है। उदाहरणार्थ—'भाग' का 'भाज', 'बनवास' का 'बनोवास', 'नटनागर' का 'नागर नट', 'राजधानी' का 'रजधानी', 'अपरम्पार' का 'अपरम्पारा', 'पाठशालाएँ' का 'पाठशालें', 'आनन्द' का 'अनन्द', 'धड़ाधड़' का 'धड़धड़ा', रूप भाषा के प्रति कवि की उछृंखलता का पता देता है। 'हटाने वाला' के लिए 'हटामी' तथा 'सहायक' के लिए 'सहा' आदि शब्दों का नव-निर्माण जहाँ कवि के अधिकार पूर्ण उत्साह का परिचायक है, वहाँ उसकी लय सम्बन्धी विवशताओं का सूचक भी है।

जीवनराम की भाषा को 'लोक-भाषा-हिन्दी' कहना सम्भवत: अधिक युक्ति संगत होगा। पंजाब के नगरों में, आज से साठ-सत्तर वर्ष पूर्व, हिन्दी के ब्रज तथा अवधी रूप प्रचलित थे। सूर तथा मीरा के कृष्ण भक्ति-विषयक पद तथा तुलसीदास की रामचरितमानस की क्रमश: ब्रज तथा अवधी भाषा ही, उस समय लोक में साहित्यिक हिन्दी मानी जाती

थी । शायद उर्दू-मुशायरों तथा उर्दू-शायरों की लोक-प्रियता से प्राप्त प्रेरणा के फलस्वरूप ही, पंजाब के तत्कालीन हिन्दी कवियों ने खड़ीबोली में काव्य-सृजन किया था । इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि व्रज तथा अवधी के प्रयोग में उनकी सिद्धहस्तता, शायद उनके अपने निकट ही, संदिग्ध रही होगी । परन्तु उनकी काव्य-भाषा व्रज तथा अवधी के प्रभाव से अछूती न रह सकी । जीवनराम के यहाँ भी अनुस्वार युक्त ओकारान्त शब्दों में 'ओं' के स्थान पर 'न' का प्रयोग (यथा—फूलों का फूलन, देवों का देवन, भक्तों का भक्तन, सन्तों का सन्तन, गउओं का गउअन, असुरों का असुरन) व्रजभाषा के प्रभाव का पता देता है । इसी प्रकार व्रजभाषा के गयो, भयो, धाय, मेरो आदि तथा अवधी के ठाढ़े, ठाम, पठाया, जेती आदि कतिपय शब्दों का प्रयोग भी, भक्तिकालीन रचनाओं के मध्यम से, जीवनराम की भाषा पर पड़े व्रज तथा अवधी के प्रभाव को स्पष्ट करता है ।

बाँगरू क्षेत्र के निकटवर्ती स्थान 'जैतो' के निवासी होने के कारण, जीवनराम धारे, अगाड़ी, ठाई (उठाई) तथा गेर आदि बाँगरू शब्दों का प्रयोग भी सहज-स्वाभाविक रूप से कर गए हैं । उर्दू-फारसी का तत्कालीन बोलबाला भी उनकी रचनाओं में कतिपय उर्दू-फारसी शब्दों तथा मुहावरों के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है । दंग, सरताज, वक्त, जंग, ज़हर, चमन, सिर्फ, क़ज़ा, गफ़लत आदि अनेकानेक उर्दू-फारसी शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ जान लबों पे आना, दंग रहना, ज़ुल्म कमाना आदि उर्दू मुहावरे भी उनके यहाँ उपलब्ध होते हैं । कहीं-कहीं कवि ने 'खाक-धूल' जैसे उर्दू-हिन्दी के शब्दों का एक साथ प्रयोग करके भाषा सम्बन्धी कुछ नये प्रयोग भी किए हैं । सानूँ, तैंने, साडी, उसनूँ, अजाई, प्याओ, टोलना आदि पंजाबी शब्दों का प्रयोग कवि के पंजाबी होने का प्रमाण है । मुखों (मुख से), चल्या (चलो), दुखाँ नाल (दुखों से) कीता (किया) तथा वगती (बहती) आदि शब्दों का, संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ हुआ प्रयोग भी, कवि की भाषा सम्बन्धी उन्मुक्त स्वच्छंद प्रकृति का पता देता है ।

इन रचनाओं में कवि की शैली इतिवृत्तात्मक रही है । 'श्रवण कथा' इस इतिवृत्तात्मकता का उत्कृष्ट उदाहरण है । अन्य रचनाओं में भी इतिवृत्त का वर्णन ही कवि को अभीष्ट रहा है । 'गो-रोदन', 'विनय' तथा 'आह्वान' शीर्षक रचनाओं में यही इतिवृत्तात्मकता उपदेशात्मकता में परिवर्तित हो जाती है तथा कहीं-कहीं भावुकता के आवेश में, कवि का स्वर तीक्ष्ण ही नहीं, कटु भी हो जाता है । गो-रक्षा के प्रति अपने कर्त्तव्य से उदासीन हिन्दू जाति के तथा विद्या एवं धर्म-परायणा के प्रति उदासीन ब्रह्मण-समाज के सम्बन्ध में, कवि का स्वर प्रताड़ना से युक्त हो गया है तथा तत्सम्बन्धी रचनाओं में उसकी शैली इतिवृत्तात्मकता तथा उपदेशात्मकता के साथ-साथ, उद्बोधनात्मक भी हो गई है ।

छन्द

प्रस्तुत संग्रह की रचनाओं में 'जीवन गुण गाया', 'गुण गावे', 'भेंट गाता', 'तुमसे कहता', 'कथा यह जीवन ने गाई', 'जीवन यह कहता सुनाई', 'जीवन सुनाता', 'जीवन यह गाता' तथा 'जीवन कहे' आदि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध संकेतों से यह बात स्पष्ट हो जाती

है कि जीवनराम, गायन द्वारा ही, अपनी इन रचनाओं को श्रोताओं तक पहुँचाया करते थे। 'हनुमान-स्तुति' पद १ तथा २ से उनके कविता की अखाड़ेबाजी में भाग लेने का पता भी चलता है। जीवनराम अपने काव्यगुरू पंडित चन्दूलाल के साथ कविता के अनेक दंगलों, धार्मिक उत्सवों, समारोहों आदि में सम्मिलित हुआ करते थे। अस्तु, कवि की इन रचनाओं से छन्दों की विविधता की अपेक्षा करना अनुचित न होगा। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचनाओं का आधार लोक में प्रचलित तर्जें तथा राग-रागनियाँ हैं, जिनसे ये रचनाएँ श्रुति-माधुर्य के अतिरिक्त गुण से ओत-प्रोत हो गई हैं।

गणेश-स्तुति–१ की रचना 'नाटक' की लोकप्रिय तर्ज पर की गई है तथा गणेश-स्तुति–३ की रचना 'राग भैरवी' में। कृष्णलीला–५ तथा दुर्गा-स्तुति–२ की रचना भी भैरवी राग में ही की गई है। शिव-स्तुति–१ में 'राग सिंधु' के दर्शन होते हैं तथा यही राग कृष्णलीला–४ में भी उपस्थित हुआ है। शिव-स्तुति–२ की रचना का आधार 'राग कल्याण' है। कृष्णलीला–२ में 'राग कान्हड़ा' तथा गो-रोदन–२ में 'खड़ताली' की छटा प्राप्त होती है। यही कान्हड़ा राग हनुमान-स्तुति–२ में भी उपलब्ध होता है। श्रवण कथा की रचना 'लावणी' के आधार पर की गई है तथा आह्वान पद–३ में 'जंगला राग' के दर्शन होते हैं। हिन्दी-छन्दों के अतिरिक्त 'कव्वाली' तथा 'गजल' नामक उर्दू-फारसी के छन्दों का प्रयोग भी, प्रस्तुत रचनाओं में कई बार किया गया है। रामलीला–८, गो-रोदन–३ तथा आह्वान पद–२ में ग़ज़ल छन्द का प्रयोग किया गया है तथा आह्वान पद–१ में कव्वाली का। पंजाबी के लोकप्रिय छन्द 'काफी' का प्रयोग (विनय पद–२) भी प्रस्तुत रचनाओं में हुआ है।

संगीतात्मकता के साथ-साथ, इन रचनाओं में, कतिपय स्थलों पर कवि ने कुछ इस अनूठे ढंग से शब्दचयन किया है कि उनके पाठ से श्रुतिमधुर नाद उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ नृत्य के समय 'छनन-छनन' तथा 'छमन-छमन' और पानी भरने के समय 'गड़व-गड़व' आदि शब्दों की योजना, कवि की संगीतप्रिय रुचि की परिचायक ही नहीं, इन रचनाओं को शब्दनाद भी प्रदान करती है। देखिए—

रम्भा आदि नृत्य करें छननन छननन।

(रामलीला–५)

गुलाल मलें मुख कृष्चंद्र के नृत्य करें मिल छमन छमन।

(कृष्णलीला–४)

लगा जल गड़व गड़व करने।

(श्रवण कथा)

अस्तु, लोक में प्रचलित राग-रागनियों एवं तत्कालीन जनप्रिय तर्जों के प्रयोग ने इन रचनाओं को श्रुतिमाधुर्य प्रदान किया है तथा गेय होने के कारण इनकी पदावली कोमल-कान्त हो गयी है।

अलंकार

प्रस्तुत ग्रन्थ की भक्ति तथा नीतिपरक रचनाओं में, यह स्वाभाविक ही था कि कवि ने अलंकारों की चमत्कृता प्रदर्शित करने का विशेष प्रयास नहीं किया है। इतिवृत्तात्मकता के मोहवश कवि की प्रतिभा कथ्य को ही अनेकानेक पौराणिक संदर्भों से पुष्ट करने में लगी रही है। इस दृष्टि से जीवनराम की ये रचनाएँ, काव्य के अलंकरण नामक गुण से वंचित प्रतीत होती हैं। फिर भी, सहज रूप से, कुछेक अलंकार इन रचनाओं में आ गए हैं, जिनकी योजना कदाचित सायास प्रतीत नहीं होती।

शब्दालंकारों में 'अनुप्रास' के दर्शन कई स्थलों पर होते हैं। इसके दो-तीन उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

गिरिजानन्दन दुःख निकंदन, करते वन्दन बार बार।
मैं हूँ पायक तुम वरदायक, सबके नायक हो भुजचार॥

गणेश-स्तुति–१

जै जै महेश गिरिजापति गिरिपति उमापति श्रीपति।

शिव-स्तुति–२

क्रीट मुकुट मकराकृत कुण्डल शोभा कोटिक काम की।

रामलीला–४

अर्थालकारों में, जहाँ एक ओर, दुर्गा स्तुति–१ में, देवी के मन्दिर में होने वाली घण्टों की झंकार को सावन में लगी बरसात की झड़ी से 'उपमा' दी गई है, वहाँ दूसरी ओर श्रवण कथा में, श्रवण की मृत्यु पर उसके माता-पिता के विलाप से सारी के पृथ्वी कांप उठने में 'अतिशयोक्ति' अलंकार का आभास होता है। इसी प्रकार होली के अवसर पर, शिव के गणों के सानन्द नृत्य के दौरान उनका जंग करना 'विरोधाभास' अलंकार को प्रस्तुत करता है।

अस्तु, सहज रूप से प्राप्त इन कुछेक अलंकारों के होते हुए भी यद्यपि यह कहा जा सकता है कि कवि ने कविता-बनिता को अलंकारों से बोझल नहीं किया है परन्तु सत्य यह है कि अलंकारों के अभाव में, इन रचनाओं में काव्य-सौंदर्य का यथेष्ट अभाव अनुभव होता है।

रस

भक्ति तथा नीतिपरक होने के कारण इन रचनाओं में मुख्य रूप से 'शान्त' रस ही उपलब्ध होता है। भक्तिभाव से रचित इन इतिवृत्तात्मक उपदेशपूर्ण रचनाओं से रस विविधता की अपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए परन्तु यह संयोग ही है कि कई स्थलों पर, प्रसंगवश शान्त रसेतर रसों की सृष्टि उपलब्ध होती है।

कृष्णलीला–३ में, कृष्ण के कालीय नाग से युद्ध में 'वीररस' की उपलब्धि होती है, जब वे यमुना में सो रहे कालीनाग को जगाकर उसे युद्ध में पराजित करके नथते हैं। जिस

समय हनुमान अपनी माता से लाल-लाल पका हुआ फल खाने की अनुमति प्राप्त करके, नवोदित सूर्य को ही, पका हुआ लाल फल समझ कर मुँह में डाल लेते हैं, उस समय 'अद्भुत रस' की सृष्टि होती है। रामलीला–७, ८, तथा ६ में राम के वन-गमन के समय राज प्रासाद में होता रुदन, माताओं का क्रन्दन तथा प्रजाजनों का हाहाकार 'करुण रस' की उत्पत्ति करता है। इसी करुण रस की सृष्टि उस समय भी होती है जब श्रवण की मृत्यु पर उसके माता-पिता विलाप करते हुए प्राण त्याग देते हैं तथा उस समय भी जब निरीह गौएँ हिन्दू जाति को उसकी कर्त्तव्य परायणता का वास्ता देते हुए उनसे अपने प्राणों की रक्षा की प्रार्थना करती हैं। रसिक बिहारी कृष्ण सम्बन्धी पक्षों में कहीं-कहीं 'शृंगार रस' के दर्शन भी होते हैं। कृष्णलीला–४ में जहाँ एक ओर नन्दलाल के गोपियों के साथ होली खेलने में 'संयोग' पक्ष प्रस्तुत होता है, वहाँ दूसरी ओर कृष्लीला–४ तथा वसंत विलास–१ में 'वियोग' पक्ष के दर्शन होते हैं।

इन विभिन्न रसों की, प्रसंगवश हुई सृष्टि के बावजूद इस ग्रन्थ में सर्वत्र 'शान्तरस' की ही प्रधानता है। भक्तिपरक रचनाओं में, प्रभु की वन्दना, उसके गुणों का गान तथा अपने लिए मुक्ति की कामना आदि में शान्तरस की ही प्राप्ति होती है। इसी प्रकार नीतिपरक रचनाओं में, समाज तथा व्यक्ति में व्याप्त त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करके कवि जब हमें शुद्धाचरण की ओर प्रवृत्त करता है, तब भी शान्तरस की ही सृष्टि होती है।

स्वपरिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ की लगभग सभी रचनाओं के अन्त में कवि जीवनराम ने अपने नाम के साथ-साथ अपने काव्यगुरू चन्दूलाल के नाम का प्रयोग भी किया है। इससे स्पष्ट होता है कि उन्हें अपने काव्यगुरू पर अगाध श्रद्धा थी। पंडित चन्दूलाल मालेरकोटला (पंजाब) के रहने वाले थे। अपने जीवनकाल में चन्दूलाल को कवि के रूप में बहुत ख्याति प्राप्त हुई थी। जीवन के उत्तरार्द्ध में, चन्दूलाल गृहस्थ जीवन से विमुखप्राय: होकर 'कुटी अलख' नामक मन्दिर में रहने लगे थे, जहाँ उनके अनेक शिष्य उनके चरणों में बैठकर काव्य-साधना किया करते थे। चन्दूलाल गायक भी थे। धार्मिक उत्सवों तथा सभाओं में वे अपनी शिष्य मण्डली के साथ सम्मिलित होकर अपनी रचनाओं के गायन द्वारा श्रोताओं को आनन्दित किया करते थे। तत्कालीन अखाड़ेबाजी में भी, चन्दूलाल तथा उनके शिष्यों के अपनी कविता के जौहर दिखाने के प्रमाण उपलब्ध हैं। जीवनराम बहुत वर्ष चन्दूलाल के साथ रहे। अनेक अखाड़ों, उत्सवों, सभाओं, जुलूस-जलसों में उन्होंने अपने काव्यगुरू का साथ दिया। प्रस्तुत ग्रन्थ की अन्तिम रचना 'शोक गीत' में कवि अपने काव्यगुरू के निधन पर अपने हार्दिक दु:ख की अभिव्यक्ति करते हुए उनके गुणों का गान ही नहीं करते अपितु उनके प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा का परिचय भी देते हैं। हनुमान स्तुति–१ तथा २ से उनका कविता के अखाड़ों में भाग लेना भी विदित होता है। इन पदों से ऐसा प्रतीत होता है कि

जीवनराम के समय में अखाड़ेबाजी का बहुत रिवाज था तथा प्रत्येक सप्ताह मंगलवार के दिन कविता का अखाड़ा जमा करता था।

मंगल के दिन दंगल होता गुण तेरा गाय रह्यो।

हनुमान स्तुति–२

वसन्त विलास–२, होलिकोत्सव तथा कृष्ण जन्माष्टमी–१ से उनका धार्मिक सभाओं तथा उत्सवों में सम्मिलित होकर कविता-गायन करना भी विदित होता है।

जीवनराम जाति के ब्राह्मण थे। यद्यपि इन रचनाओं में उन्होंने अपने ब्राह्मण होने की घोषणा कहीं नहीं की है, परन्तु ब्राह्मणों की ह्रासोन्मुखी अवस्था पर उनका खिन्नता-प्रदर्शन तथा उनके उद्धार के लिए उनकी तड़प, उनके ब्राह्मण होने का परिचय देती है। 'स्वपरिचय' सम्बन्धी इस संकेत को ही पर्याप्त न माना जाए तो उन बड़े-बूढ़ों ने, जिन्होंने चन्दूलाल तथा उनके शिष्यों को देखा-जाना-सुना था, इस तथ्य की पुष्टि की है।

रचनाकाल

यद्यपि जीवनराम ने, इन रचनाओं में कहीं भी इनके रचनाकाल के विषय में संकेत नहीं दिया है परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ की अन्तिम रचना 'शोकगीत' से यह अनुमान लगाना सरल है कि इनका रचनाकाल चन्दूलाल के जीवन का उत्तरार्द्ध रहा होगा। 'शोकगीत' का रचनाकाल ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी सम्वत् १९७४ वि० है। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित पाण्डु-लिपि इसके रचनाकाल के विषय में कुछ संकेत उपलब्ध कराती है। पाण्डुलिपि में जीवनराम की रचनाओं के साथ-साथ कुछेक रचनाएँ चन्दूलाल की भी दर्ज हैं। इससे अनुमान होता है कि यह पाण्डुलिपि चन्दूलाल के जीवनकाल में ही तैयार की गई होगी। पाण्डुलिपि के बीच कुछ पृष्ठ पंडित नानकचन्द के लिखे हुए हैं। नानकचंद चन्दूलाल के शिष्य थे, जिनके स्वयं कवि होने का कोई प्रमाण तो नहीं मिला है, परन्तु वे कई वर्ष चन्दूलाल के साथ रहे थे। नानकचन्द के सुपुत्र पंडित श्यामलाल इसके साक्षी हैं। चन्दूलाल प्रौढ़ावस्था में अंधत्व को प्राप्त हो गए थे। उनकी कतिपय रचनाएं नानकचंद के हाथ की लिखी हुई उपलब्ध हुई हैं। उन रचनाओं की अनुक्रमणिका के अन्त में "हस्ताक्षर विद्यार्थी नानकचन्द शर्म्मा" दर्ज है तथा कापी लिखने की तिथि भाद्रपद शुक्ल सम्वत् १९५५ दी हुई है। इसी हस्ताक्षर में लिखित कुछेक पृष्ठ जीवनराम की पाण्डुलिपि में भी मौजूद हैं। अतः इससे इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि जीवनराम की इन रचनाओं का रचनाकाल १९५५ वि०–१९७४ वि० रहा होगा।

अस्तु, प्रस्तुत पाण्डुलिपि हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण निधि है जो प्रकाश में आने पर साहित्य के इतिहास में समुचित स्थान प्राप्त कर सकेगी।

'आधुनिक समाज और अजनबीपन की भावना'

विद्याशंकर राय

जब मनुष्य जीवन की प्रवहमान धारा से विछिन्न हो जाता है और चाहकर भी उससे जुड़ नहीं पाता तो अजनबीपन की भावना उत्पन्न होती है। सामान्यत: अजनबीपन शब्द का प्रयोग सामाजिक सम्बन्धों के बिखराव से सम्बद्ध अर्थशून्यता, एकाकीपन, परायापन या आत्मविश्वास खोने के संदर्भ में किया जाता है, पर इसका विशिष्ट और सूक्ष्म अर्थ परम्परागत सांस्कृतिक ढाँचे में उत्पन्न गतिरोध से है। वर्तमान काल में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के द्रुत प्रसार से गाँव और शहर के परम्परित ढाँचे में जबर्दस्त बदलाव आया है। आज का मनुष्य प्रकृति, ईश्वर और समाज—सबसे कट गया है। मशीनीकरण, आपसी प्रतिस्पर्द्धा और भीषण भागदौड़ से यह संसार निराकार और अर्थहीन हो गया है। इस वैज्ञानिक सभ्यता के गहरे संघात के फलस्वरूप नये-नये सम्बन्ध विकसित हुए, पर इन नवविकसित सम्बन्धों से मनुष्य उस अर्थ में नहीं जुड़ पाया जिस अर्थ में उसे वाकई जुड़ना चाहिए था। पारम्परिक रिश्तों से जड़ उखड़ने और नये रागात्मक सम्बन्धों को न विकसित कर पाने के कारण वह निराधार हो गया है। आज का मनुष्य दिन प्रति दिन इस विश्व के रहस्यों का उद्घाटन करता जा रहा है। नियमत: इस प्रक्रिया में इसे इस संसार से जुड़ना चाहिए, लेकिन व्यवहार में ठीक इसके विपरीत घटित होता है। एक तरफ तो सामान्य अर्थों में मनुष्य पूरे विश्व से परिचित है किन्तु दूसरी तरफ वह अपने पड़ोसी से भी अपरिचित है। आज आपसी रिश्ते बिल्कुल वस्तुपरक और अमानवीय हो गये हैं। संभवत: संसार के इतिहास में पहली बार मनुष्य अपने लिए समस्या बन गया है। मनुष्य दूसरे ग्रहों पर अपना आवास बनाने के लिए प्रयत्नशील है और इधर उसका अपने संसार से सम्बन्ध टूट रहा है।[१] प्रौद्योगिक, धर्मनिरपेक्ष और वस्तुपरक समाज में उभरते खालीपन में व्यक्ति अपने को एक इकाई के रूप में नहीं महसूस कर पाता और उसपर कई शक्तियाँ विपरीत दिशाओं में कार्य करने लगती हैं। जो कुछ घटित होता है, व्यक्ति उस पर चाहते हुए भी नियंत्रण नहीं रख पाता। अजनबीपन की इस स्थिति में व्यक्ति जितना दूसरे व्यक्तियों और वस्तुओं से दूर होता है उतना स्वयं अपने से भी।

अजनबीपन शब्द अंग्रेजी के 'एलिएनेशन' शब्द का पर्याय है। सर्वप्रथम इसका प्रयोग जर्मन दार्शनिक हेगेल ने अपने आदर्शवादी दर्शन के मंतव्यों के अनुरूप आध्यात्मिक अर्थों में किया। फायरबाख ने अजनबीपन की धारणा को वस्तुपरकता प्रदान की और हेगेल के दर्शन की अपर्याप्तता, खोखलेपन और आदर्शवादी रुझान के खिलाफ बहुत बड़ा प्रश्न चिन्ह लगा दिया। कार्ल मार्क्स ने पहले पहल सामाजिक सम्बन्धों के ढाँचे को व्याख्यायित करने के लिए इसका प्रयोग सामाजिक संदर्भों में किया। सन् १८४४ में प्रकाशित 'अजनबी श्रम' शीर्षक अपने सुप्रसिद्ध निबन्ध में मार्क्स ने जो समस्या विकसित की थी उसे आज भी पूँजीवादी समाज में मनुष्य की स्थिति और उसपर वस्तुपरक उत्पादन के प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है। मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था में मजदूर को वस्तुओं के स्तर पर उतार दिया जाता है। जितनी अधिक मात्रा में उत्पादन होता है, एक मजदूर उतना ही सस्ता होता जाता है। जैसे-जैसे वस्तुओं के संसार में मूल्यगत वृद्धि होती है, मानवीय संसार का अवमूल्यन होता जाता है। और मजदूर द्वारा उत्पादित वस्तु अजनबी करने वाली शक्ति के रूप में कार्य करने लगती है। इस प्रकार एक श्रमिक अपने को अजनबी महसूस करता है। यह अजनबीश्रम मनुष्य को उसके मानव शरीर से, प्रकृति से, उसके अपने आत्मिक तत्व मनुष्यत्व से अजनबी कर देता है।[२] इस तरह मनुष्य ही मनुष्य के ऊपर अजनबीपन की शक्ति के रूप में कार्य करता है। मार्क्स की इस वैचारिक परम्परा को आगे बढ़ाने वाले चिन्तकों में जार्ज सिमेल, लूकॉच और इरिक फ्रॉम के नाम उल्लेखनीय हैं।

मार्क्स के बाद अजनबीपन शब्द अपने सामान्य ढीले-ढाले अर्थों में प्रयुक्त हुआ। इसका तात्पर्य प्रत्येक चीज से लिया गया—किसी भी पीड़ित करने वाली भावना, असंतोष, कटुता या निराशा से। इस शब्द के बढ़े चढ़े अर्थों के पीछे समाजशास्त्रीय कारण हैं। बुर्जुआ-समाज में सभी प्रकार के त्रास, आतंक, शोषण और हर प्रकार की अमानवीयताएँ तथा उसी से सम्बन्धित और मूलरूप से श्रम के अमानवीयकरण और परायेपन से जुड़ी हुई समस्याएँ थी—इन सबको अजनबीपन शब्द द्योतित करने लगा। इस समय अजनबीपन का तात्पर्य, पूंजीवाद के मानव व्यक्तित्व पर पड़े जटिल प्रभावों के योग से है। यह एक विशेष प्रकार के अनुभव की दशा है जिसमें व्यक्ति अपने आपको इस दुनिया में और अपने जीवन में एक अजनबी महसूस करता है।[३] पूंजीवादी का संसार विशुद्ध रूप से संकीर्ण तकनीकी बौद्धिकता का संसार होता है जोकि मनुष्य का प्रयोग केवल साधनों के रूप में करता है। मनुष्य वैयक्तिक रूप से साधन होता है और सामूहिक रूप में मानवता के तौर पर अमूर्त्त हो जाता है। मार्क्स का यह दृढ़ विश्वास था कि अजनबीपन केवल पूंजीवादी समाज में पूर्णरूप से पनप सकता है, क्योंकि यह केवल पूँजीवादी समाज है जिसमें मनुष्य अपने को पूर्णतया खोया हुआ अनुभव करता है, अपने कार्य से तथा दूसरे मनुष्यों व स्वयं अपने से कटा हुआ महसूस करता है। पूंजीवाद दबाव के ढाँचों और सम्बन्धों के गलत प्रारूपों को उत्पन्न करता है। सामाजिक ढाँचों की जटिलता के कारण सताया हुआ पीड़ित व्यक्ति यह अनुभव नहीं कर पाता कि कौन और क्यों उसको सताता है और विशेष रूप से वह यह नहीं जानता कि उसे इसे बदलने के लिए क्या करना होगा।

यों हेगेल से भी पूर्व ईसाइयों के धार्मिक साहित्य में अजनबीपन की भावना छिपी मिलती है। धर्म की सतत् धारणा के पीछे मानव की मानवता की अपूर्णता है। प्राय: यह हसूस किया जाता है कि वर्तमान समाजों में मानवीय आकांक्षा की अतृप्ति का तथ्य वास्तविक है। इसी कमी की पूर्ति व्यक्ति स्वर्ग या परलोक की कल्पना करके करता है जहाँ सारी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हैं। इस प्रकार यहाँ एक सामाजिक समस्या धार्मिक समस्या के रूप में बदल जाती है। धार्मिक चिन्तन ने मानवीय दशाओं के भीतर अजनबीपन की स्थिति को समझा और मनुष्य को सपनों के सुनहले संसार में फेंक दिया। मानव-जीवन में अजनबीपन की भावना की शुरूआत यहीं से हुई।

पश्चिम के आधुनिक इतिहास का सबसे बड़ा तथ्य धर्म का निषेध है।[४] धर्म को खोने से मनुष्य इस संसार की विवेकहीन वस्तुपरकता का सामना करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया गया। उसे अपने को ऐसे संसार में बेघर महसूस करने के लिए विवश होना पड़ा जिसमें उसकी आत्मिक पुकार का कोई उत्तर नहीं था। कुछ शताब्दियों से मानव-मन में जो नया विश्वास पनपा है, उसके परिप्रेक्ष्य में ईश्वर को मानना अजीब-सा लगता है। औद्योगिककरण के पूर्व व्यक्ति का जीवन इस संसार में उद्देश्यपूर्ण था। उसके जीवन के मूल्य, अर्थ पहले से निश्चित थे।

व्यावहारिक विज्ञान के विकास विशेषकर कोपरनिकस, गैगीलियो और न्यूटन के द्वारा इस भौतिक संसार को समझने का एक नया तरीका मिला जिसने परम्परागत संसार के दृष्टिकोण को बदल दिया। इस नये दृष्टिकौण ने निश्चित एकरूपता और यांत्रिक संसार का दृष्टिकोण रखा। और इस तरह आधुनिक विज्ञान के अग्रदूतों ने ईश्वर का अस्तित्व शुरू-शुरू में बिना किसी संदेह के मान लिया ताकि सांसारिक घड़ी ठीक तरह से काम कर सके। इस संदर्भ में डेकॉर्ट का उल्लेख कर सकते हैं। जैसे-जैसे इस नई दुनिया की वैज्ञानिक प्रविधि स्पष्ट होती गई, ईश्वर का संदर्भ वैसे ही धीरे-धीरे वैज्ञानिक संसार से दूर होता गया। नीत्शे द्वारा ईश्वर की मृत्यु की घोषणा एक ऐसे मस्तिष्क के जन्म का प्रतीक है जिसका मानवीय मूल्यों में विश्वास था तथा जो ईश्वर के प्रति बिलकुल उदासीन था। डार्विन और मार्क्स के भौतिकवादी विचारों ने इसमें और ज्यादा योग दिया।

हेगेल, फायरबाख और मार्क्स तथा इस परम्परा के अन्य विचारकों के चिन्तन से अलग हटकर कुछ दार्शनिकों ने व्यक्ति को प्रमुखता देते हुए इस समस्या को एक नई दृष्टि से देखा। ये अस्तित्ववादी चिन्तक कहलाये। इनमें कीर्केगार्द, दोस्तोएवँस्की, नीत्शे, हेडेगर, यास्पर्स, मार्शल, सार्च और कामू-काफ्का के नाम उल्लेखनीय हैं। इन अस्तित्ववादी विचारकों में अजनबीपन की समस्या पर सार्च ने गंभीर रूप से दार्शनिक चिन्तन किया है। अपने 'अस्तित्ववाद' वाले सुप्रसिद्ध व्याख्यान में सार्च कहते हैं कि मनुष्य अपनी योजना से भिन्न कुछ और नहीं है। उ का अस्तित्व उसी सीमा तक है जहाँ तक वह अपने आपको पूरा करता है। बहुधा अपनी बदकिस्मत और निकम्मेपन को सहन करने के लिए लोगों के पास एकमात्र मार्ग यह सोचना रहता है कि परिस्थितियाँ हमारे प्रतिकूल रही हैं। जो मैं रह

चुका हूँ और कर चुका हूँ—मेरे सही मूल्य को प्रकट नहीं करता है। जो किताबें मैंने लिखी हैं, वे बहुत अच्छी नहीं हुई हैं क्योंकि मुझे समुचित खाली समय नहीं मिला। इसलिए तमाम अभिरुचियाँ, प्रवृत्तियाँ और संभावनाएँ उपयोग में नहीं आईं; यद्यपि मुझमें पर्याप्त ढंग से मौजूद हैं। सार्त्र का कहना है कि अस्तित्ववाद इस तरह की 'बकवासों' को महत्व न देकर स्पष्ट रूप से कहता है कि तुम अपने जीवन के अलावा और कुछ नहीं हो। यानी मनुष्य कार्यों की एक परम्परा से अलग दूसरी चीज नहीं है। अस्तित्ववाद मानव-संसार की अपेक्षा दूसरे किसी संसार को नहीं मानता। व्यक्ति के अलावा नियमों को बनाने वाला दूसरा कोई नहीं है। इसी से अस्तित्ववाद घोषणा करता है कि यदि परमात्मा का जीवन हो भी तो वह कुछ भी परिवर्तन नहीं करेगा।[६] इस तरह अस्तित्ववाद मनुष्य के इर्द-गिर्द फैले अंधविश्वासों और अज्ञान के झूठे जालों को काटकर व्यक्ति को नितान्त एकांकी कर देता है और इसी एकाकीपन के बोध से अजनबीपन की कई स्थितियाँ जन्म लेती हैं।

अजनबीपन की भावना के मूल में प्रौद्योगिकी के द्रुत विकास को मानते हुए इस पर तीखा प्रहार कई विद्वानों ने किया है। इनमें जार्ज सिमेल, लूइस ममफोर्ड, पीटर लेस्लेट थियोडोर रोजेक और क्रिस्टोफर राइट के नाम प्रमुख हैं। इरिक फ्रॉम ने तो यहाँ तक आगे बढ़कर कहा है कि तकनीकी विकास मानवीय मूल्यों के नकार पर प्रतिष्ठित है। आधुनिक मशीन सभ्यता के दोषों की तरफ इशारा करते हुए लूइस ममफोर्ड कहते हैं कि इसका, अस्तित्व पूर्णतया समय से बँधा हुआ, नियमित और पूर्व निर्धारित है। इसका मनुष्य के कार्य-कलापों पर निरंकुश शासन मानवीय व्यवहारों के अति विस्तृत दायरे को जेलखाने की सीमा में बाँध देता है। बंधनों की यह जकड़न स्वस्थ मन के लिए हानिकारक और नुकसानदेह है और इसको बनाये रखने पर व्यक्ति अनुशासन के तनाव से पीड़ित हो सकता है। प्रौद्योगिकी से उभरे खालीपन से जीवन में तनाव और उत्तेजना की वृद्धि हुई है, कभी न समाप्त होने वाली बेचैनी और ऊब का जन्म हुआ है। और चूंकि इसका किसी प्रकार दमन नहीं किया जा सकता। अतः जीवन में रिक्तता का अनुभव होता है। इसी को भरने के लिए लोग फैशन की भीड़ में अपने को खो देना चाहते हैं, नशा करते हैं, ऊटपटाँग काम करते हैं—फिर भी इससे मुक्त नहीं हो पाते।

कॉलिन विलसन ने अपनी बहुचर्चित कृति 'द आउटसाइडर' में इसे एक सामाजिक समस्या माना है। वे कहते हैं कि अजनबी व्यक्ति अजनबी इसलिए है क्योंकि वह सत्य के लिए आरूढ़ है, चीजों को गहराई से देखता है तथा चरम सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है।[७] उसकी मूल समस्या है कि 'मैं कौन हूँ'। अजनबी व्यक्ति की समस्या इस संसार को देखने की एक दृष्टि देती है जिसे निराशावादी कहा जा सकता है। यहाँ सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि अजनबी व्यक्ति व्यावहारिकता या व्यावसायिकता जैसे गुणों को अपने में विकसित करने से इन्कार कर देता है जो कि हमारी आज की जटिल सभ्यता में जीने के लिए जरूरी है। अजनबी व्यक्ति का अभाग्य इस बात में छिपा रहता है कि वह अपने लिए नया विश्वास और नई आस्था बटोरने में असमर्थ रहता है। वह

अत्यन्त उच्चस्तर की भाव-प्रवण संवेदना रखता है। इसी अतिशय बौद्धिकता के कारण वह दूसरे लोगों से कट जाता है और परम्परित मूल्यों को विनष्ट कर देता है क्योंकि उनमें उसका विश्वास नहीं होता पर इनके स्थानापन्न के रूप में नये मूल्यों को विकसित न कर पाने के कारण वह एक आत्मघाती प्रवृत्ति से ऊपर नहीं उठ पाता।

संदर्भ संकेत

(१) 'मैन एलोन : एलिएनेशन इन मॉडर्न सोसायटी', सं० जोसेफ्सन, १९६६, भूमिका। (२) 'अजनबी श्रम'—कार्ल मार्क्स, मैन एलोन : एलिएनेशन इन मॉडर्न सोसायटी'। (३) 'एलिएनेशन ऐंड लिटरेचर'—सुदीप्त कविराज, इ० यू० मैं० दिस० ७३–मार्च ७४। (४) 'मैन एलोन : एलिएनेशन इन मॉडर्न सोसायटी' में विलियम बैरेट का लेख। (५) 'एथेइज्म एंड एलिएनेशन'—पैट्रिक मास्टर्सन, १९७३। (६) 'एक्जिस्टें-शियलिज्म एंड ह्यूमन इमोशन्स'—सार्च। (७) 'द आउटसाइडर'—कॉलिन विल्सन, १९६०, पृ० १३।

नाटक में भाषा और कार्य की अंतस्संगति

--डॉ० रमेश तिवारी

नाटक पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है और अभी आज भी लिखा जा रहा है किन्तु--समीक्षा का स्तर, विशेषकर हिन्दी नाटक-समीक्षा का स्तर आज भी बहुत अधिक परिष्कृत, निखरा हुआ तथा प्रौढ़ नहीं बन पाया हैं। नाटक की आम चर्चा में कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, रस और अभिनेयता जैसे स्थूल शीर्षकों में नाटक को बाँट कर चर्चा करने की जो परम्परा संस्कृत-साहित्य के परवर्ती काल में दिखाई पड़ती है उससे आज भी अपना पीछा छुड़ा पाना हमारे लिए कठिन हो गया है। शुरू में तो इस पद्धति को ग्रहण करना हिन्दी की विवशता थी किन्तु आज वह पद्धति हिन्दी नाटक समीक्षकों की सुविधावादी सरलीकृत दृष्टि एवं नाटक विधा की सूक्ष्म संवेदनशील पकड़ के अभाव से ही उत्पन्न मानी जा सकती है।

वस्तुतः अब वक्त आ गया है जब हमें नाटक जैसी महत्वपूर्ण तथा बहुआयामी कला रूप की समस्त आकांक्षाओं तथा संभावनाओं पर सूक्ष्म, गहन और संवेदनशील दृष्टि से विचार करने तथा समग्रता में उसे विश्लेषित करने की शुरूआत डालनी है। नाटक ने इधर दुनिया भर में अपना जो विकास किया है और जिंदगी की वास्तविकताओं तथा विडम्बनाओं (आयरनी) को प्रभावशाली तरीके से व्यक्त कर देने की अपने अन्दर जैसी अभूतपूर्व क्षमता तथा शक्ति अर्जित की है उसे देखते हुए उस पर नये सिरे से विचार करना न केवल अपेक्षित है वरन् सांस्कृतिक अनिवार्यता भी है।

दरअसल नाटक ही एक मात्र ऐसा कला-माध्यम है जिसमें हम जिंदगी को न केवल पढ़ते हैं बल्कि उसे अपनी नजरों से गुजरती हुई देखते भी हैं। गुजरती हुई देखने की यह प्रक्रिया पढ़ने की प्रक्रिया से कहीं अधिक निकटवर्ती और कहीं अधिक जीवंत प्रतीत होती है। जिंदगी को गुजरती हुई देखने की प्रक्रिया में जिस आसानी तथा सरलता के साथ दर्शक जिंदगी की उस अवस्था--विशेष का हिस्सेदार बन जाता है उस आसानी तथा सरलता के साथ पढ़ने की प्रक्रिया में नहीं। इसीलिए नाटक का प्रभाव अन्य कला-माध्यमों, जो केवल

पठ्य होते हैं, दृश्य नहीं, की तुला में कहीं अधिक स्थायी, कहीं अधिक ठोस और कहीं अधिक गुणात्मक होता है। 'काव्येषु नाटकम् रम्यम्' का संकेत दर असल यही ग्रहण करना चाहिए न कि मनोरंजनाधिक्य के अर्थ में।

जहाँ तक नाटक के रचना-तंत्र का सवाल है, वह एक सामूहिक रचना-तंत्र है जिसे रचयिता, निर्देशक तथा दर्शक के त्रिकोण से समझा जा सकता है। नाटक की सिद्धि में इन तीनों ही सूत्रों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। अन्य कला-माध्यम की भाँति नाटक किसी एक ही व्यक्ति की सृष्टि नहीं होता जैसा कि कहानी, कविता या उपन्यास होता है, बल्कि उसमें कई-कई व्यक्तियों की प्रतिमाएँ एक साथ मिलकर अपना प्रभाव उत्पन्न करती हैं और उसे अत्याधिक प्रभावशाली बनाती हैं। इस सामूहिकता के कारण अनिवार्यतः नाटक की रचना-प्रक्रिया में एक प्रकार की दुरूहता तथा जटिलता भी आ जाती है और वह अक्सर कलाकारों के लिए चुनौती भी बन जाता है। नाटक के क्षेत्र में अन्य क्षेत्रों की भाँति लेखकों एवं कलालारों की भीड़ न होने के पीछे भी संभवतः यही कारण है, क्योंकि अन्य विधाओं में जहाँ कलाकारों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है वहाँ नाटककार उंगलियों पर गिने जाने भर को ही प्राप्त होते हैं और अच्छे नाटककार तो और भी कम हैं।

नाटक की परिकल्पना का पहला सूत्रधार वह रचनाकार होता है जो अपनी भाषिक संरचना द्वारा नाटक की मूल समस्या तथा कथा को संयोजित करके उसे एक व्यवस्था प्रदान करता है। वस्तुतः नाटक का वीज रूप यही होता है और किसी चित्र के रेखांकन की भाँति नाटक की यही मूल-भूत प्रस्तावना भी होती है जिस पर आगे रंग भरने तथा उसे एक निश्चित आकार देने का काम निर्देशक करता है। किन्तु निर्देशक इन रेखांकनों की उपेक्षा नहीं कर सकता और वह अपने को नाटक के मूल कथा से जोड़कर ही रंग भरने का काम करता है और उसके कार्य-कलाप नाटक की भाषिक संरचना से ही नियंत्रित एवं निर्देशित होते हैं। स्पष्ट है कि नाटक की सिद्धि में उसकी भाषिक-संरचना का न केवल प्राथमिक बल्कि अंतिम रूप से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हाथ होता है और इस प्रकार रचनाकार की भूमिका नाटक की परिकल्पना में सर्वाधिक गंभीर एवं जटिल होती है जिसके अभाव में नाटक की कल्पना ही संभव नहीं है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि नाटक का दूसरा सूत्रधार, यानी कि निर्देशक लेखक के हाथ की कठपुतली होता है और वह आँख मूंद कर लेखक के पीछे-पीछे चलने को विवश है। बल्कि वस्तुस्थिति तो यह है कि निर्देशक कभी-कभी नाटक की सिद्धि में लेखक से भी अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर जाता है और लेखक जिस प्रभाव को अपनी भाषिक संरचना में चाहते हुए भी नहीं उत्पन्न कर पाता उसे भी वह अपने रंग परिज्ञान से उत्पन्न कर देता है। तात्पर्य यह कि नाटक की सिद्धि में निर्देशक की भूमिका अनुपेक्षणीय है और नाटक की मंच प्रस्तुति की संपूर्ण जिम्मेदारी उसी की होती है। ऐसे में वह रंगमंच के संयोजन द्वारा नाटक में मन चाहा प्रभाव उत्पन्न करने में सफल हो जाता है और नाटक की भाषिक संरचना तक को भी कभी-कभी एक भिन्न आकार दे डालता है।

यद्यपि ऐसा कोई प्रतिभाशाली निर्देशक ही करता है, सभी नहीं कर पाते, फिर भी निर्देशक अगर प्रतिभाशाली है तो उसकी इस कारगर तथा महत्वपूर्ण भूमिका से इन्कार नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि नाटक पढ़ने में उतना संतोषप्रद तथा प्रभावशाली नहीं प्रतीत होता जितना कि रंगमच पर देखने में।

नाटक की भाषिक संरचना यद्यपि नाटक के लिए एक बुनियादी आवश्यकता एवं उसका एक महत्वपूर्ण हिस्सा होती है, किन्तु वह अंततः नाटक का एक कच्चा ढाँचा ही है जिसे अपनी रंग-प्रज्ञा से सुन्दर मूर्ति के रूप में ढालना निर्देशक की जिम्मेदारी है। ऐसी दशा में अच्छी से अच्छी भाषिक संरचना भी कमजोर निर्देशक के हाथ में पड़कर अपना प्रभाव खो दे सकती है और इसके विपरीत कमजोर भाषिक संरचना भी अच्छे निर्देशक के हाथ में पड़कर प्रभावशाली तथा उत्कृष्ट बन जा सकती है। जाहिर है कि नाटक की सिद्धि में रचयिता तथा निर्देशक दोनों की ही भूमिकाएं महत्वपूर्ण हैं एक दूसरे की पूरक हैं और किसी एक के भी अभाव में नाटक का अस्तित्व संदेहास्पद है और किसी एक की भी कमजोरी नाटक को कमजोर बना देने के लिए पर्याप्त हो सकती है।

जहाँ तक नाटक के तीसरे सूत्रधार, दर्शकों की बात है, नाटक की सिद्धि में वह भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और नाटक के मंचन में आश्चर्यजनक रूप से सहायक होते हैं। नाटक की मंच-व्यवस्था बड़ी ही नाजुक सी चीज एवं अत्यन्त सूक्ष्म तथा अत्यधिक संवेदनशील होती है, जिसमें हर छोटी-बड़ी घटना का अपना एक विशिष्ट अर्थ होता है और अपना एक विशिष्ट अभिप्राय होता है। यहाँ तक कि संपूर्ण प्रेच्छागृह नाटक की चेतना एवं परिवेश में समाहित हो जाता है और अपनी मौजूदगी एवं व्यवस्था से नाटक को प्रभावित करता है। इस प्रकार नाटक की मंच-सज्जा ही नाटक पर प्रभाव नहीं डालती, बल्कि रंगशाला की व्यवस्था एवं दर्शकों का सहयोग भी उस पर अपना प्रभाव डालता है और उस अवसर विशेष में रंगशाला के अन्दर मौजूद हर चीज नाटक के मंचन में अपनी-अपनी क्षमता के अनुरूप सहायक होती है और नाट्य प्रस्तुति के एक अनिवार्य हिस्से के रूप में दिखाई पड़ती है। इस प्रकार नाटक में जो घटना दिखाई जाती है उसमें केवल अभिनय करने वाले चरित्र ही नहीं भाग लेते, बल्कि प्रेच्छागृह के तमाम दर्शक भी उसमें हिस्सा लेते हैं और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। बल्कि नाटक की सफलता ही इसी बात में होती है कि दर्शक वर्ग अपने को उसका अंग मानने लगे और नाटक और नाटक की घटना के साथ खुद का भी सम्बन्ध अनुभव करने लगे। किसी भी नाटक के लिए सचमुच यह एक आदर्श स्थिति होगी जब कि प्रेच्छागृह में उपस्थित सभी व्यक्ति नाटक के कथ्य से इस हद तक अपने को जुड़ा हुआ महसूस करने लगेगा कि नाटक की घटना उसे अपने जीवन की घटना दिखाई पड़ने लगेगी। प्राचीन आचार्यों ने शायद इसी तथ्य को इंगित करने के लिए नाटक के प्रसंग में साधारणीकरण की परिकल्पना की थी जिसकी सत्यता में आज भी कोई अन्तर नहीं आया है, उसकी व्याख्या में अन्तर भले ही आ गया हो या विवाद उठ खड़ा हुआ हो।

नाटकों में दर्शक की भूमिका को अगर किसी उदाहरण के जरिए समझने का आग्रह

हों तो यूं समझिए कि शहर के किसी चौराहे पर मान लीजिए कि दो लोग आपस में लड़ना शुरू कर देते हैं जिन्हें देखने के लिए सैकड़ों की तादाद में भीड़ इकट्ठी हो जाती है। अब इस घटना की कोई भी इमेज इन दर्शकों को उस घटना से निकाल कर नहीं बन सकती। जबकि प्रत्यक्षतः दर्शक समूह उक्त घटना में कोई सक्रिय हिस्सा नहीं लेता फिर भी उक्त घटना को तथा उसमें सक्रिय रूप से हिस्सा ले रहे लोगों को अपनी मौजूदगी से किसी न किसी रूप में प्रभावित तो करती ही है। बहुत संभव है कि पीटने वाले व्यक्ति को पीटे जाने वाला व्यक्ति अगर अकेले में कुछ कहता तो शायद वह गम खा जाता, किन्तु भरे बाजार में इतने लोगों से घिरे होने के कारण उसे अपना अपमान बर्दाश्त नहीं हुआ और वह मारने मरने पर उतर आया। स्पष्ट है कि किसी घटना विशेष के अवसर पर दर्शक रूप में हमारी उपस्थिति भी उक्त घटना पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह पाती। ऐसे में अगर प्रत्यक्ष जीवन का यह हाल है तो नाटक की घटना इससे कोई बहुत भिन्न थोड़े हैं। वह तो यथार्थ जीवन का ही अंग है और उसकी घटनाओं में जीवन की घटनाओं की ही ताजगी तथा सुगंध भरी होती है।

इस प्रकार नाटक की पूर्णता इन तीनों सूत्रों के परस्पर संतुलन तथा संगति पर ही आधारित है और सभी के परस्पर सहयोग से ही उसकी सार्थकता प्रतिभासित होती है। नाटक जब तक रंगमंच पर खेला नहीं जाता जब तक अधूरा है क्योंकि जब तक उसे न तो निर्देशक का किसी प्रकार का कोई सहयोग प्राप्त होता है और न दर्शकों का। ऐसे में नाटक की पूर्णता के लिए रंगमंच पर उसकी प्रस्तुति नितांत आवश्यक है और नाटक की रचना-प्रक्रिया का ही यह मंच प्रस्तुति भी एक अनिवार्य अंग है। नाटक में दो चीजें प्रधानतः होती हैं—भाषा और कार्य, जिनकी परस्पर संगति ही नाटक को जीवंत तथा गतिशील बनाती है। इनमें से भाषा का सम्बन्ध रचनाकार से होता है तो कार्य का निर्देशक से और नाटक के लिए जितनी भाषा आवश्यक है, उतनी ही आवश्यकता कार्य की भी होती है। 'नाटक' संज्ञा से भी किसी कार्य-विशेष के आयोजन का आभास होता है। फलतः नाटक से कार्य को अलग करके नहीं देखा जा सकता और ऐसी हालत में शायद नाटक भी न रह जायगा और अगर उसमें से कार्य-व्यापार को निकाल दिया जाय।

स्पष्ट है कि नाटक की मूल परिकल्पना में जितना महत्त्व उसके लिखे जाने का है, उससे जरा भी कम उसके दिखाए जाने का नहीं है। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि नाटक जब तक रंगमंच पर दिखाया नहीं जाता, तब तक उसकी रचना पूरी ही नहीं होती। नाटक की भाषिक संरचना तो नाटक का सिर्फ एक आयाम है, उसके अन्य आयाम तो उसकी मंच प्रस्तुति में ही उसके साथ जुड़ते हैं, जिसके अभाव में नाटक की मूल परिकल्पना निश्चित रूप से अधूरी ही रह जाती है। प्राचीनकाल में दृश्य और पठ्य नामक नाटक के दो स्थूल भेद किये जाने के कारण यह भ्रम एक अरसे तक बना रहा कि नाटक केवल दृश्य ही नहीं, बल्कि पठ्य भी हो सकते हैं, जिसका शिकार अनेक नाट्य-प्रतिभाओं को बनना पड़ा। हिन्दी में माखनलाल चतुर्वेदी तथा जयशंकर प्रसाद जैसी नाट्य-प्रतिभाओं के साथ बहुत कुछ यही हुआ और इसीलिए इन नाट्य-प्रतिभाओं ने कार्य-व्यापारों तथा मंचीय

विधानों की अपेक्षा की और अपने नाटकों में कार्य-व्यापार को गतिशील तथा जीवंत बनाने वाली सृजनशील भाषिक संरचना के स्थान पर एक प्रकार की विवरणात्मक तथा साहित्यिक आभिजात्यपूर्ण भाषिक और संरचना को ही अधिक प्रश्रय दिया। किन्तु अब यह भ्रम दूर हो गया है कि नाटक रचना की पूर्णता उसकी मंच-प्रस्तुति के अभाव में भी संभव है। इसीलिए नाटक चर्चा में स्वभावतः कार्य-व्यापारों की महत्ता इधर बढ़ गई है जिसे शब्दों के माध्यम से अधिक मूर्त, गतिशील और जीवंत बनाना नाटककारों के लिए एक नई चुनौती बन गई है। संभवतः स्वर्गीय नाटककार मोहनराकेश को 'नाटक में शब्द' विषय पर काम करने की प्रेरणा स्वयं एक सफल नाटककार होने के नाते इन चुनौती से ही प्राप्त हुई हो। क्योंकि नाटक में शब्दों का ऐसा किस प्रकार प्रयोग किया जाय कि उसका कार्य-व्यापार अधिक जीवंत, मूर्त और गतिशील वन सके, आज के नाटककार की यही सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या है, जिसमें दुनियाभर के नाटककार अपने-अपने ढंग से जूझ रहे हैं।

तात्पर्य यह कि नाटक की प्रकृति कार्य-प्रधान होती है जिसमें हर चीज सक्रिय एवं गतिवान प्रतीत होती है। रंगमंच पर रखी गई प्रत्येक वस्तु में एक गति देखी जा सकती है, जिसके द्वारा नाटक में जीवंतता तथा गतिशीलता उत्पन्न की जाती है। ऐसे में नाटक की भाषा से भी यही अपेक्षा रहती है कि उसमें भी अपेक्षित गतिशीलता एवं सक्रियता हो। क्योंकि नाटक का सम्पूर्ण ढाँचा भाषावद्ध ही होता है, जिसका उसके कार्य-व्यापारों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। ऐसी दशा में नाटक की भाषा अगर शिथिल है, गतिहीन है और ढीली-ढाली है तो उसकी मंच-प्रस्तुति में भी यह शिथिलता और गतिहीनता छिपी नहीं रह जाती और इससे नाटक का प्रभाव जैसा पड़ना चाहिए वैसा नहीं पड़ पाता। इसलिए नाटक की भाषिक संरचना में इस बात का ध्यान रखना नितांत आवश्यक है कि नाटक की भाषा ऐसी ही हो जो नाटक के कार्य-व्यापारों में गति एवं प्रवाह उत्पन्न कर सके और इस प्रकार उसके कथ्य को अधिकाधिक स्पष्ट और मूर्तरूप प्रदान कर सके।

वस्तुतः नाटक के संदर्भ में भाषा और कार्य की अंतस्संगति नितांत आवश्यक है और अनिवार्य भी। नाट्यभाषा का अगर नाटकीय कार्य-व्यापारों के साथ अंतरंग सम्बन्ध नहीं है तो ऐसी भाषिक संरचना कम से कम नाटक के लिए ठीक नहीं मानी जा सकती। नाटक का एक-एक शब्द कार्य-व्यापारों की जीवंतता तथा प्रभावशालिता में सहायक होकर ही अपनी तथा नाटक की भी सार्थकता सिद्ध करता है। जाहिर है कि नाटककार की भाषा उसके कार्य-व्यापार से निमंत्रित होती है और उसे इस बात की मनमानी छूट नहीं रहती कि वह चाहे जैसे वर्णनात्मक संवाद अथवा उत्कृष्ट साहित्यिक किताबी भाषा का प्रयोग करे। ... ... नाटक में संवादों की सहजता एवं स्वाभाविकता एक विशेष अर्थ में अपेक्षित होती है और नाटक की कथावस्तु एवं घटना विन्यास से उसका घनिष्टतम सम्बन्ध होता है। नाटक की घटनाएँ तथा उनका कार्य विधान जैसे-जैसे बदलता जाता है संवादों एवं भाषिक संरचना में भी उसी के समानान्तर बदलाव आता जाता है और जैसे-जैसे नाटक

की गतिशीलता एवं तीव्रता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे भाषा की गतिशीलता एवं तीव्रता में भी बढ़ाव देखा जा सकता है। नाटक के कार्य-व्यापार को तेज या मंद करना, उसकी मूर्तता को स्पष्ट या धुंधला बनाना, उसे जीवंत या निर्जीव रूप देना—यह सब नाटक की भाषा का ही कार्य है और उसी की सशक्ता एवं अशक्तता पर आधारित है। तात्पर्य यह कि भाषा की सशक्तता एक तरफ जहाँ नाटक के कार्य-व्यापार को अधिक मूर्त, स्पष्ट तथा गतिवान बनाने में सक्षम होती है तो दूसरी तरफ भाषा की अशक्तता एवं शिथिलता उसके कार्य-व्यापार को धुंधला, मंद, गतिहीन तथा निर्जीव भी बना डालती है। अतः नाटक में भाषा और कार्य एक दूसरे पर इस कदर अवलम्बित होते हैं कि एक के अभाव में दूसरे की कल्पना भी असंभव है और दोनों एक दूसरे के पूरक बन कर ही अपनी सार्थकता प्रमाणित कर सकते हैं। क्योंकि जहाँ भाषा कार्य को मूर्त, जीवंत तथा गतिशील बनाती है वहाँ कार्य-व्यापार भी भाषा को सुसंगठित, सुनियोजित और सृजनात्मक बनाने में सहायक होता है।

कार्य-व्यापारों की अपेक्षित गतिशीलता भाषा की सृजनात्मकता का उत्स होती है। भाषा कार्य-व्यापारों की गतिशीलता एवं जीवंतता को अत्यन्त बारीकी से पकड़ कर स्वयं को रचना धर्मी, गत्यवमान बनाती है तथा एक विशेष प्रकार की नाटकीय प्रांजलता तथा प्रभविष्णुता प्राप्त करती है। यह अपेक्षित गतिशीलता और जीवंतता अगर नाटकीय कार्य-व्यापारों में न हो तो कहना कठिन है कि उक्त नाटक की भाषा उसे कहाँ तक गति-शील और जीवंत बना सकेगी। वैसे यह सच है कि सर्जनशील एवं समर्थवान भाषा कमजोर कथानकों तथा गतिहीन कार्य-व्यापारों को भी गतिवान बनाकर पेश कर देने की क्षमता रखती है, फिर भी नाटकीय कार्य-व्यापारों की स्वयं की गतिशीलता तथा जीवंतता नाटक में नितांत आवश्यक वस्तु होती है, क्योंकि नाटकीय कार्य-व्यापार अथवा नाटक का कथानक अगर बिल्कुल ही कमजोर और बेजान है तो भाषा उसकी बहुत मदद नहीं कर सकती। लेकिन अगर कार्य के अन्तर्गत स्वयं की कुछ भी गतिशीलता एवं जीवंतता है तो सृजनशील नाट्य भाषा उसमें जान डाल दे सकती है। तात्पर्य यह कि भाषा ही कार्य व्यापारों को नियोजित नहीं करती बल्कि नाटकीय कार्य-व्यापार भी भाषा को नियोजित करते हैं। वस्तुतः नाटक की रचना प्रक्रिया के संदर्भ में भाषा और कार्य की अंतस्संगति से हमारा यही अभिप्राय है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी नाटक के रचना-तंत्र पर अभी इस दृष्टि से विचार नहीं किया गया है और न ही इस दृष्टि से उसके विकास के विभिन्न स्तरों का ही विश्लेषण किया गया है। हिन्दी का एक तो नाटक-साहित्य ही बहुत ही पिछड़ा हुआ है और उससे सम्बन्धित आलोचना साहित्य तो और भी पिछड़ा है। नाटक समीक्षा के नाम पर हिन्दी में आमतौर पर जो सामग्रियां मिलती हैं, वह बहुत ही सामान्यकोटि की हैं और हिन्दी में नाट्य-समीक्षा का स्तर अन्य विधाओं की समीक्षाओं के स्तरों की ही भाँति अविकसित और अपर्याप्त अवस्था में ही है। यद्यपि हिन्दी-आलोचना को विरासत के रूप में जिस संस्कृत काव्य शास्त्र की समृद्ध परम्परा प्राप्त है, उसका आधार नाटक साहित्य

ही है और उसी के आधार पर प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र का निर्माण हुआ है जो किसी न किसी रूप में अपनी अप्रासंगिकता के बावजूद सम्पूर्ण साहित्य के लिए आज भी व्यवहृत होता रहता है, लेकिन हिन्दी साहित्य में एक लम्बे अरसे तक नाटक रचना के अभाव के कारण न केवल इस नाटक-साहित्य से कटे रह गए हैं बल्कि नाटक-आलोचना से भी हम असम्बद्ध ही रहते आये हैं। और आधुनिककाल यानी कि भारतेन्दु काल में जब गद्य की विभिन्न विधाएं शुरू होती हैं तभी हिन्दी में नाटक-रचना की शुरूआत होती है और नाटक समीक्षा की भी। स्पष्ट है कि हिन्दी नाटक तथा उसकी आलोचना अभी हाल की ही वस्तु है जिनका पर्याप्त विकास अभी नहीं हो पाया है अभी तो जैसे हिन्दी नाटक रचना अपने प्रारम्भिक दौर से गुजर रही है वैसे ही हिन्दी नाटक-समीक्षा भी अपनी शुरूआत डालने में ही लगी हुई है।

स्पष्ट है कि हिन्दी नाटक-समीक्षा को अभी पूरे सौ साल भी नहीं हुए गुज़रे हैं और इस दृष्टि से वह अभी न केवल अपनी उम्र में ही वरन् अपनी सोच और मानसिकता में भी अपूर्ण और अप्रौढ़ ही दिखाई देती है।

इस सम्बन्ध में एक दूसरी बात यह भी ध्यान में रखने की है कि हिन्दी में नाटक को वह गौरव नहीं प्राप्त है जो संस्कृत में उसे प्राप्त था और इसीलिए हिन्दी नाटक सम्पूर्ण काव्य-रचना का पर्याय नहीं समझा जाता जैसा कि संस्कृत में उसे समझा जाता रहा है। जाहिर है कि हिन्दी नाटक-समीक्षा को भी हिन्दी काव्यशास्त्र में वह स्थान नहीं प्राप्त है जो संस्कृत काव्यशास्त्र में संस्कृत नाट्य समीक्षा को प्राप्त रहा है। बल्कि यहाँ तो स्थिति उल्टी ही दिखायी देती है। संस्कृत में जहाँ नाट्य समीक्षा के आधार पर संपूर्ण काव्य-समीक्षा का स्वरूप गढ़ा गया है, वहाँ हिन्दी में अन्यान्य विधाओं की आलोचना के आधार पर ही नाटक समीक्षा का ढांचा खड़ा करने की प्रवृत्ति लक्षित की जा सकती है। हिन्दी में नाटक-रचना तथा समीक्षा के दौर के पहले आदिकालीन तथा भक्तिकालीन साहित्य के दो महत्वपूर्ण दौर गुजर चुके हैं जिनसे सम्बन्धित विपुल आलोचना सामग्रियां भी प्रकाश में आयी हैं जिनका प्रभाव नाटक-समीक्षा पर पड़ना स्वाभाविक है। इसके साथ ही १९वीं शताब्दी के आधुनिक साहित्यिक आँदोलनों के परिणामस्वरूप उत्पन्न गद्य की तमाम विधाओं के साहित्य-सृजन तथा उनसे सम्बन्धित आलोचना का प्रभाव भी नाटक-समीक्षा पर अनिवार्यतः देखा जा सकता है। फलतः हिन्दी नाटक समीक्षा का विकास संस्कृत नाट्य-समीक्षा की भाँति पूर्णतः स्वतंत्र तथा मौलिक धरातल पर नहीं हुआ है और न ही वह हिन्दी में आदिसाहित्य तथा आदि आलोचना शास्त्र के रूप में ही प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार हिन्दी नाटक समीक्षा ने प्राचीन तथा आधुनिक पद्य साहित्य एवं गद्य की अन्यान्य विधाओं यथा उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि से सम्बन्धित व्यापक आलोचना शास्त्र से बहुत कुछ ग्रहण किया है। नाटक-समीक्षा की प्रकृति से ही यह बात प्रमाणित भी हो जाती है, क्योंकि नाटक-समीक्षा की प्रकृति भी लगभग वही रही है जो उपन्यास-कहानी-समीक्षा की। और उपन्यास कहानी की समीक्षा में जिस प्रकार कथावस्तु, चरित्र-चित्रण एवं स्थापत्य-शिल्प जैसे तमाम उपशीर्षकों में कहानी तथा उपन्यास का स्थूल

विभाजन करके उसके अध्ययन की प्रवृत्ति विकसित हुई है उसी प्रकार हिन्दी नाटक-समीक्षा का भी अभी इन्हीं स्थूल विभाजनों तक सीमित है और उसमें भी नाटक को कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, रस और अभिनेयता इत्यादि शीर्षकों में बांट कर अध्यापन, विश्लेषण की प्रवृत्ति लक्षित की जा सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाटक के अध्ययन की यह पद्धति कितनी स्थूल, अपर्याप्त और अधूरी है, क्योंकि इस तरह का स्थूल विभाजन नाटक में संभव ही नहीं है। यह उपन्यास या कहानी में ही हो सकता है। ऐसा अनुमान लगाना सर्वथा गलत नहीं होगा कि नाटक की भाषिक संरचना को ही पूरा नाटक मान लेने की दृष्टि ने ही इस तरह के स्थूल विभाजनों को जन्म दिया होगा अथवा नाटक में कार्य-व्यापारों की महत्पूर्ण भूमिका के अज्ञान ने। इसीलिए नाटक को भी उपन्यास-कहानी की भाँति ग्रहण करने की अभ्यस्तता आती होगी। नाटक में जो पठ्य तथा दृश्य दो रूप मिलते हैं वह भी इसी भ्रमपूर्ण अभ्यस्तता का ही परिणाम है जिसपर से अब हमारा ध्यान निःसंदेह उठ गया है और आज नाटक में ऐसे भेदों की कल्पना सम्भव नहीं है। आज हम उस भाषिक संरचना को नाटक नहीं मानते—नहीं मान सकते जो अनभिनेय अथवा मंच प्रस्तुति के अयोग्य हो। क्योंकि नाटक की कोई भी तसवीर मंच प्रस्तुति के अभाव में नहीं बनती नहीं बन सकती।

स्पष्ट है कि नाटक के बारे में हमारी यह नई सोच नाटक के एक ऐसे कला-माध्यम के रूप में ग्रहण करती है जिसमें नाटक की भाषिक संरचना तथा उसका रंग संयोजना दोनों ही मिल-जुलकर नाटक बनाते तथा उसे सिद्धि तक पहुँचाते हैं। इसलिए नाटक के अध्ययन तथा विश्लेषण में इन दोनों पहलुओं को साथ-साथ लेकर चलना एवं दोनों पर ही सागोपांग विचार करना नितांत आवश्यक है। ऐसा करके ही हम हिन्दी नाटक-समीक्षा की एक नई बुनियाद डाल सकेंगे और उन तमाम भ्रांतियों तथा अंतर्विरोधियों से भी मुक्त हो सकेंगे जो हिन्दी नाटक-समीक्षा में अब तक मौजूद रहे हैं, ऐसा मेरा विश्वास है।

लोक-गीत और जन-चेतना

—नंदल हितैषी

लोक-गीत धरती के पौदे हैं, जिनका स्वाभाविक गति से सदैव विकास होता रहता है उसमें उलट-फेर होते रहते हैं ठीक वैसे ही जैसे मानव की जीवन प्रक्रिया। आध्यात्म, शिक्षा, दर्शन, हास्य, सेक्स, इतिहास, भूगोल आदि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सभी कुछ तो सिमट गया है इन भारतीय लोक-गीतों में। लोक-गीतों में अधिकांश रचनायें परम्परागत ही है:

वैसे जन-चेतना का शाब्दिक अर्थ 'जनता की चेतना' ही कहा जायगा। इस चेतना को मैं किसी वाद के तहत नहीं स्वीकारना चाहता। मानव मस्तिष्क की यह ऐसी चेतना है जो सभ्यता के साथ ही साथ प्रस्फुटित और पल्लवित होती रही। चाहे भक्तिकाल हो, चाहे उससे पूर्व और चाहे आज का समूचा संदर्भ। जन-चेतना किन्हीं अंशों में रही जरूर होगी।

वस्तुत: लोक साहित्य में मात्र शाब्दिक अर्थ अपेक्षित नहीं। तमाम आयामों को, मद्दे-नजर रखकर विवेचन करना होगा।

लोक गीतों में सभ्यता का लिपा-पुता रूप ही नहीं मिलता, मानव के सहज क्रिया-कलाप स्वाभाविक गति से उगते और पनपते हैं। सुख-दुख की अनुकृतियाँ, राग-द्वेष, हास-विलास, रीति-रिवाज, उमंग-उच्छ्वास। यहाँ घुटन है तो उल्लास भी, मस्ती है तो रोदन भी और सोहर है तो मृत्यु भी।

जन-चेतना का सीधा सम्बन्ध समाज से है, परिवार से है और इसी नाते राष्ट्र से है।

श्री मोहन लाल बबुलकर सामाजिक अध्ययन के लिये लोक गीतों में गीतात्मक अभिव्यक्तियाँ, सामाजिक अवस्था तथा जीवन की मान्यताओं में अध्ययन की आवश्यकता महसूस करते हैं।

लोक-गीतों का विश्लेषण करके पूरी की पूरी संस्कृति, सभ्यता तथा संदर्भ विशेष की व्यवस्था को स्पष्ट किया जा सकता है। जीवन का ऐसा कोई भी पहलू नहीं, जिसे इन लोक-गीतों ने न उजागर किया हो। चाहे भोगी हो चाहे जोगी, लोक-गीतों में उसका चित्रांकन अवश्य ही मिलेगा।

'चाहे शेक्सपियर से पूछो, चाहे शिलर से और चाहे कवि रवीन्द्र से—यही कहेंगे : लोक-गीत ही हमारा गुरु है।'[१]

देवेन्द्र सत्यार्थी की इस युक्ति में पूरी-पूरी सत्यता है कि लोक-गीत खेत के पास पला हैं और गीत के विकास में धरती की कोख धन्य हुई है।

बड़े ही सीधे और जोरदार शब्दों में कहना चाहता हूँ—

"लोक-गीत जीवन के अभिन्न अंग हैं। भले ही आज के इस मशीनी युग में हमने उन पिछले संदर्भों से कटने का मात्र अभिनय किया हो परन्तु वास्तविकता तो यही है। उधर गर्भाशय में मांश पिण्ड ने हरकत शुरू ही किया इधर लोक-गीतों से उसका वार्तालाप भी चलने लगा।"

यही है चेतना की एक कोमल शुरूआत।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय जनता आज भी अधिकाधिक गाँवों में बसती है और यहीं से पनपती है उसकी चेतना। उसका प्रथम भ्रूण—

"प्रकृति प्राँगण में मानव-जीवन का सरलतम उतार-चढ़ाव लोक-गीतों की मुख्य भूमिका रही।"

मेरी अपनी उक्त मान्यता 'परी' की मान्यता के प्रतिकूल है कि 'लोक-गीत मानव जीवन का उल्लासमय संगीत है'। 'परी' महोदय सम्भवत: मात्र उल्लास के ही क्षणों को लोक-गीतों की संज्ञा देना चाहते हैं जब कि भारतीय दर्शन में ऐसी बात नहीं है, हाँ डॉ० श्याम परमार की मान्यता काफी स्पष्ट है।

"गीतों में विज्ञान की तराश नहीं, मानव संस्कृति का सारल्य और व्यापक भागों का उभार है"।[२]

चाहे कविता-कौमुदी की भूमिका पढ़ें, चाहे अन्य संकलनों पर दृष्टि डालें परम्परागत लोक-गीत गांवों की जनता के समानान्तर ही चलते हैं।

यूरोप भ्रमण में वहाँ के देहातों में घूमते हुए टैगोर ने रास्ता चलते कुछ लोगों से पूछा था 'तुम ईसाई हो'? लोगों ने टैगोर की बात नहीं समझी, उन्होंने फिर पूछा 'तुम ईसा क्राइस्ट को जानते हो?' वह क्या कोई कुली है? उन लोगों ने उत्तर दिया। अपने देवता और धर्म के प्रति इस प्रकार की अज्ञानता उस देश की साधारण जनता की है जो आज विश्व में अपनी सभ्यता का ढिंढोरा पीट रही है, लेकिन भारत के अनपढ़ व्यक्ति भी अपनी संस्कृति के प्रति जागरूक हैं, चेतनशील हैं।

संस्कृत साहित्य के अनेक कवियों ने लोक-गीतों के गाये जाने का वर्णन अपनी कृतियों में किया है। जिसका क्षेत्र, पुत्र जन्म, विवाह तथा यज्ञादि तक ही न सीमित हो कर श्रम, मजदूरी, मनुष्यता, कंकड़-पत्थर, वृक्ष, नदी-नाले, पहाड़ आदि सभी पर व्यापक दृष्टि डाली गई है जिसमें एक संगठन की भावना है। एक दूसरे के अस्तित्व की पहचान है और सबसे बड़ी बात एक दूसरे के प्रति चेतना का व्यक्तित्व उजागर है। जिसके पीछे सभी सुखी हों, एक भरपूर समाजवादी परम्परा का श्रीगणेश है, मानवता का उद्घोष है। जनचेतना इससे

अछूती नहीं, एक साथ सभी की मंगलकामना निश्चय ही व्यक्तिगत चेतना से भी आगे एक सामूहिक चेतना है।

कौन कहता है भारतीय कन्यायें शादी-व्याह के मसले में खामोश रहती हैं, पिता या ब्राह्मण ही उनका भाग्य विधाता है ? जिस खूँटे पर चाहें उसे बाँध दें। आइये लोक-गीतों की तरफ—उपयुक्त वर खोजने के लिये कन्या गीत के ओट से पिता से निवेदन कर रही है निश्चय ही वह चेतनावस्था में है और उसी के साथ चेतनशील है कन्याओं की पूरी टोली : अपनी बात तो वह कहेगी ही, भले ही आप समझें या न समझें। अमल करें या न करें।

कालो मत हेरो बाबा। कुल जो लजावैं।
गोरो मत हेरो बाबा। अंग पसीजैं।
लाम्बो मत हेरो बाबा। साबुत फल तोड़ैं।
ओछो मत हेरो बाबा। बावन्यू बतावैं :[३]

टोना-टोटका भी लोक-गीतों के ही अंग हैं। जो भी है सब का सब वैसे ही वास्तविक रूप में कहीं कोई बनावट, पर्दादि नहीं। लोक-गीत अपने जीवन, अपने क्षेत्र और अपने कथ्य के प्रति ईमानदार हैं। यही फर्क है 'गीत' और 'लोक-गीत' में।

लड़की नहीं चाहती उसका होने वाला पति पराई नारी के सम्पर्क में रहे, उसके साथ मौज मस्ती करे और इधर टूटती जाय उसकी जिन्दगी, घुटते जायें उसके अरमान, कुण्ठित हो जाये उसकी सगरी अनुभूतियाँ। समाज कुछ व्यवस्थायें प्रतिपादित करता है, कुछ सीमायें निर्धारित करता है जिससे समूची व्यवस्था टूटने न पायें। लोग सचेत रहें, चेतनशील रहें।

माई रे ! मैं करिहौं टोना
कौवे कै जीभ, कबूतर के पखना,
उड़तैं चिरैया के नैनवा.........
माई रे ! मैं करिहौं टोना।
नैन के बाँधे, नैन ना चलैहैं
तकैं न पराई नारि रे.........
माई रे ! मैं करिहौं टोना।
पाँव के बाँधे, पाँव न उठैहैं,
चढ़ै न पराई सेज रे.........
माई रे ! मैं करिहौ टोना।
हाँथ के बाँधे, हाथ ना उठैहैं
गहैं ना पराई देंह रे.........
माई रे ! मैं करिहौं टोना।[४]

नयी नवेली दुल्हन में चेतना है, अपने प्रति, अपने लोगों के प्रति, इसी नाते परिवार के प्रति, समाज के प्रति। वह नहीं चाहती उसका जीवन नर्क बन जाये, इसलिये वह पहले से ही सजग है कि उसका अपना परिवार छिन्न-भिन्न न होने पाये, जीवन बोझ न बन जाये।

पहाड़ी क्षेत्रों में आज भी कहीं-कहीं यह प्रथा प्रचलित है—किसी पुरुष के मृत्यु हो जाने पर अर्थी के साथ चलने वाले लोग उस पुरुष के खेत और खलिहान से ही गुजरते हैं और गेहूँ का पिसा हुआ आटा उसके खेतों की चौहद्दी पर छोड़ते जाते हैं। जिसका संकेत होता है 'यही है तुम्हारा खेत'। साथ ही साथ एक गीत भी गाते जाते हैं जिसका अर्थ होता है--

'ऐ! स्वर्ग जाने वाले राही--अपने खेतों की सीमा देखते जाओ, हम वचन देते हैं इस पर तुम्हारे ही बाल-बच्चों का अधिकार रहेगा'।

'जब हम अपने खेतों को जोतेंगे, तो तुम्हारे भी खेत में हल चलेगा'।

'जब हम अपने खेतों में बीज डालेंगे तो तुम्हारे भी खेतों में अंकुर फूटेंगे'।

(इसी क्रम में)

'जब हम अपनी फसल काटेगें जो तुम्हारे खलिहान में भी अनाज का ढेर लगेगा'।

अत:

'हे स्वर्ग जाने वाले राही—अपने खेत और खलिहान की सीमा देखते जाओ,--तुम्हें शान्ति मिले'।

भले ही आज की सभ्यता इस क्रिया को ढकोसला कह कर कन्नी काट जाये। आज का यथार्थवादी युग इसमें टीका-टिप्पणी करें, परन्तु मेरे ख्याल से उक्त परम्परागत प्रक्रिया निश्चय ही मानवीय सम्वेदनाओं के प्रति सजग और ईमानदार है। मानवीय 'जन-चेतना' का यही तो है आधार स्तम्भ।

ध्यान रहे लोक-गीतों में व्यक्तिगत को कम समूहगत बातों पर अधिक चर्चा चलती है, वहाँ अपना कुछ भी नहीं है, सब सामूहिक है। इसी नाते वहाँ एक की भी चेतना जन-चेतना का प्रतिनिधित्व करने को काफी है।

अपनी स्थितियों की पहचान, अपना अधिकार-क्षेत्र, कर्त्तव्य-क्षेत्र तथा सही-गलत का सीमा रेखाँकन और इन्ही के साथ-साथ शोषण की पहचान तथा समयान्तर सही दिशा का संकेत ही जनता की समूची चेतना है।

दूर-दराज़ के गाँव। वहाँ के छोटे से दायरे में घिरी हुई परम्परायें, जब अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति ईमानदार हो उठती है, तो निश्चय ही एक सन्तोष, आत्मतोष सुखकर लगता है।

घूंघट में मुखड़ा काढ़ के,
पेटी में डारे वोट जी।

ससुरा के राज में मैंने—
अबके डारे ओट जी।
जेठा ससुरा के राज में,
मैंने अब के डारे वोट जी।[५]

'कोउ नृप होई, हमै का हानी, चेरी छाँड़ि न होबइ रानी।'

की सोच प्रक्रिया में एक संदर्भ विशेष से हट कर कुछ आगे सोचना यकीनन व्यक्तिगत चेतना की द्योतक है और इसी से सटी है 'जन-चेतना।

देखें—उक्त पंक्तियों में, 'आँचल में है दूध और आँखों में पानी' की सामन्तवादी मान्यता से परे विवाहिता ग्राम्य बालायें जीवन में पहली बार मतदान केन्द्रों पर आई हैं, अपने मताधिकारों के लिये। खुशी की बात है कि वे स्वतः ही इस चेतना का अनुभव भी कर रही हैं। क्या 'जन-चेतना' को इस चेतना से परे रखा जा सकेगा ? निश्चय ही नहीं।

'जन-चेतना' जब कहीं गहरे से पैठ करती है तो उसकी दृष्टि दूर की होती है जिस रेंज में तमाम बातें समाहित हो जाती हैं।

इधर अवधी इलाके में शादी के समय, भाँवर के साथ ही भाई द्वारा 'लावा-परछन' की क्रिया दोहराई जाती है। हर भाँवर के साथ ही लोक-गीतों की कड़ी भी चलती है।

इस 'लावा-परछन' में भाई द्वारा धान के लावे बहन की गोद में डाले जाते हैं। इन लावों की एक खास खूबी यह होती है कि धान के छिलके (आवरण) इसमें ही लगे होते हैं।

भाई कन्या पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हुए अपनी उस बहन को संबोधित करते हुए यह कह रहा है जो छठें फेरे तक तो अपनी है किन्तु सातवें फेरे के आते ही पराई हो जाती है। वस्तुतः पराई वह कभी भी नहीं होती। एक आन्तरिक सम्बन्ध, नेह और एक नाता तो रहता ही है। जहाँ नेह और नाता है, वहाँ अपने पराये का प्रश्न ही नहीं।

देखें—ऐसे ही एक 'लावा-परछन' के लोक-गीत में जन-जन की भावना।

यहाँ धान का लावा मात्र एक प्रतीक है।

भाई कहता है—

हे ! बहना !! देखो यह धान का लावा कितना खिला हुआ और श्वेत है। तुम्हारा भी जीवन खिलता रहे, उज्ज्वल रहे।

हे ! बहना !! देखो—धान का छिलका इसी में लगा है। तुम्हारे भी पति का स्नेह सदा तुम्हारे साथ रहे।

हे ! बहना !! यह खिला हुआ लावा पहले धान के रूप में था। भार (भड़भूंजे) की तप्त बालुओं में यह इस रूप में आया। तुम्हें भी वक्त की कसौटी पर ऐसे ही हालात से लड़ते हुये बढ़ना है और अपना निर्णय लेना है।

हे ! बहना !! धान की फसल पहले कहीं बोई जाती है फिर वहाँ से हटा कर दूसरे खेतों में उसे रोप दिया जाता है। वैसे ही अब तुम्हारे भी फलने-फूलने के दिन आ गये हैं। तुम्हें आज हम कहीं और सौंप रहे हैं—जिनके साथ हमारा अभी नया नाता है, तुम सदा सुखी रहो।

मंगल कामना की इस क्रिया में क्या मनुष्यगत चेतना का कोई स्थान नहीं ? आन्तरिक अनुभूतियों का कोई एहसास नहीं ?

चेतनागत सूक्ष्म अनुभूतियों को भी नज़र-अन्दाज़ नहीं किया जा सकता। जीवन में साधारण और सूक्ष्म बातों का भी अपना एक दर्जा होता है।

देखें—यूँ तो कहने को बात कुछ अटपटी ज़रूर लगेगी—फिर भी चेतना की एक सूक्ष्म परोपकारी अनुभूति अवश्य ही मिलेगी।

'बाबा, निमिया का पेड़ जिनि काटेउ
निमिया चिरैया बसेर,
बलैया लेउँ बीरन'।

सामन्ती युग में क्या कुछ होता रहा इसे कहने की आवश्यकता नहीं वह तो कोई और ही था जो नक्कारखाने में तूती की आवाज़ भी बखूबी सुन लेता था वर्ना किस की मजाल जो उस युग में या संदर्भ विशेष में अपनी बात कर सके, भले ही वह फरियादी ही क्यों न हो ?

जहाँ अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता छीन ली जाये, ज़बाँ पर ताले डाल दिये जायें वहाँ सर उठाने का परिणाम पूर्व अनुमानित है।

'हरिनी हरिना लेत बसेरा बधिक लगावत जाल,
कूदि फाँदि के हरिनी निकरी, हरिना के परिगा फाँस।
इसी पार से हरिन पुकारई सुनु हरिनी मोरि बात,
विधना के घर खरच खोटाने बेंचि खात मोरि माँस।
× × ×
बिरह बोलि सुनि के हरिनी के होईगा बधिक उदास,
सुधि आई अपनी तिरिया के काटि दियो गल फाँस।

उक्त इस कहरवा लोक-गीत में बधिक, हरिन, हरिनी तीनों प्रतीक हैं। सामन्तवादी युग के ही बधिक शोषक का प्रतीक और हरिन हिरनी शोषित के।

हरिन जाल में फंस जाता है, चेतना के अभाव में हरिनी चाहती तो चौकड़ी भर कर वहाँ से ओझल हो जाती किन्तु नहीं इन शोषितों में भी चेतना तो जाग ही गई है भले ही वह व्यक्तिगत हो कर समूहगत की ओर अग्रसर हो।

अपनी चेतना के कारण ही हरिनी उस बधिक और अपने हरिन से संवाद करती है और अपनी ही अनुभूति में अपनी चेतना के कारण उस बधिक को भी ला छोड़ती है तभी तो—

'बिरह बोल सुन कै हरिनी के, होइगा बधिक उदास,
सुधि आई अपनी तिरिया कै, काटि दियो गल फाँस'।

यदि जन-चेतना की समूची शक्ति इतिहास बदलने को काफी है तो निश्चय ही लोक-गीतों की जन-चेतना भूगोल भी बदलती आई है।

अतः लोक गीतों के संदर्भ में जन-चेतना झुठलाई नहीं जा सकती।

संदर्भ-संकेत

(१) जन-साहित्य पत्रिका, भाषा विभाग, हरियाणा। (२) मालवी लोक साहित्य, हिन्दुस्तानी, १९६९, पृ० २९। (३) राजस्थानी लोक-गीत से। (४) अवधी लोक-गीत से। (५) बेरसिया (भोपाल) ग्राम के एक लोक-गीत से।

अकबरी दरबार का गायक सुजान दास

डॉ० शालिग्राम गुप्त

संगीत जगत में 'आगरा घराना' के एक माने हुए कलाकार खां तसद्दुक़ हुसेन खाँ 'विनोद पिया' (जीवनकाल १८७०-१९५६ ई०) के अनुसार 'आगरा घराना' के संस्थापक एवं अकबरी दरबार के एक कुशल ध्रुवपद गायक सुजान खाँ का प्रकृत नाम सुजानदास अथवा सुजान सिंह था। वे मूलत: ग्वालियर वासी राजपूत चौहान और नौहारी (नाहरी[1]) वाणी के गायक थे। तानसेन ने जिनका प्रकृत नाम शेख़ हुसेन था, सुजानदास से अपनी पुत्री का विवाह कर उनका धर्मपरिवर्तन किया था। इस प्रकार राजपूत सुजानदास ही आगे चलकर सुजान खाँ और हज़ करने के कारण हाजी सुजान खाँ नाम से अभिहित किये जाने लगे थे। कहते हैं एक बार सम्राट अकबर के अनुरोध पर उन्होंने एक विशेष अवसर पर दीपकराग गाकर दीपक प्रज्वलित किया था। अत: सम्राट ने प्रसन्न होकर सुजानदास को 'दीपक ज्योति' की उपाधि के साथ ही पुरस्कार में अलवर के पास स्थित गौनंपुर या गोधंपुर नामक एक ग्राम भी प्रदान किया था।

खाँ तसद्दुक़ हुसेन खाँ के ही अनुसार 'आगरा घराना' के आदि पुरुष श्री रामदास जी थे, जिनका अन्य नाम नायक धोंडु[2] था। वे राजपूत चौहान थे तथा उनकी गायकी की बानी 'नौहारी' थी। उन्होंने कालान्तर में योग (सन्यास) धारण कर लिया था। उन्हीं की चौथी पुश्त[3] सुजानदास हुए थे। सुजानदास के क्रमश: चार पुत्र अलकदास, मलकदास, खलकदास और लवंगदास हुए। शेख़ हुसेन 'तानसेन' ने अपने सबसे बड़े दौहित्र अलकदास के विवाह में सम्मिलित होकर एक ध्रुवपद की रचना भी की थी, जो इस प्रकार है—

स्थायी— व्याहन आया बाजत ढोल
मंगल धोंगल निशान धराया।

अंतरा— असीस मोर कंगना मेंहदी सोहे
पागा सोने सजाया॥

आभोग— नर नारी मिल मंगल गावत
सखीयन टोना चलाया।
आगें मौंमदशा पीछे 'दीपक-ज्योत'
गुनन सराया।
चिर जुग जीयो अलकदास को दूल्हा
मियाँ जी ने मंगल गाया।

उक्त ध्रुवपद से यह भी प्रतीत होता है कि अलकदास की बारात में मौंमद शाह अर्थात सम्राट अकबर भी मियाँ तानसेन के साथ सम्मिलित हुए थे। अलकदास निःसन्तान रहे किन्तु इनके छोटे भाई मलकदास के दो पुत्र सरसरंग और श्यामरंग हुए थे जो एक श्रेष्ठ संगीतज्ञ होने के कारण काशी नरेश वीरभद्र सिंह से वृत्ति प्राप्त करते हुए आगरा में ही बराबर रहे।[४]

'आइने अकबरी' में प्राप्त अकबरी दरबार के प्रमुख ३६ संगीत कलाकारों की नामावली में २० गायक थे। इस सूची में सुजानदास अथवा सुजान खाँ का नामोउल्लेख तो नहीं मिलता किन्तु सूची में १९वाँ नाम सूरदास गायक का अवश्य आता है। अबुल फ़ज़ल ने लिखा है कि अकबर के दरबार में ग्वालियर निवासी रामदास नामक एक गवैया था। उसका लड़का सूरदास था जो अपने पिता के साथ दरबार में आया करता था। यह बात अब तक स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो चुकी है कि उक्त सूरदास अष्टछापी भक्तकवि सूरदास नहीं हैं। यहाँ जिन बाबा रामदास का उल्लेख किया गया है, वे कहीं ग्वालियर-वासी रामदास उर्फ़ नायक धोंडु तो नहीं जो गोस्वामी हरि राय जी के 'भाव प्रकाश' सहित '२५२ वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार ३० वर्ष की अवस्था में आगरा आने और फिर कुछ समय बाद महाबन से होकर गोकुल जा गुसाईं विट्ठलनाथ जी का दर्शन लाभकर वल्लभ सम्प्रदायी हो गये थे। 'भाव प्रकाश' के ही अनुसार नायक धोंडु मधुर कंठी होने के साथ ही मृदंग वादन की कला में निपुण थे। अतः यह सम्भव है कि इन रामदास के अनेक शिष्यगण रहे हों जिन्हें वे गायन और वादन की शिक्षा देते रहे हों। इसी से इन्हें आइने अकबरीकार ने 'बाबा' कह कर सम्बोधित किया हो और इन्हीं ग्वालियरवासी रामदास के पुत्र सुजानदास को प्रमादवश उसने सूरदास के नाम से अभिहित कर दिया हो? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

हमारे आलोच्य कवि गायक रामदास उर्फ़ नायक धोंडु मुगल सम्राट हुमायूँ एवं अकबर के काल में विद्यमान थे। अतः यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि रामदास का सम्बन्ध अकबरी दरबार से किसी न किसी रूप में रहा होगा और उनके दरबार में यदाकदा आने-जाने पर अबुल फ़ज़ल के अनुसार उनके पुत्र सूरदास (वस्तुतः सुजानदास) भी दरबार में आते-जाते रहे होंगे और कालान्तर में कभी दरबार में एक गवैये के रूप में उन्होंने भी अपना स्थान बना लिया हो।

हकीम मुहम्मद करम इमाम खाँ कृत 'मादनुल मौसिकी' में अकबरी दरबार के

संगीतज्ञों के साथ सुजान खाँ का नाम भी प्राप्त होता है। डॉ० श्रीधर परांजपे कृत 'संगीत-बोध' के अनुसार 'आगरा घराना' के संस्थापक सुजान खाँ अकबर कालीन थे। वाग्गेयकार सुजान खाँ ने 'सुजान' छाप अंकित करते हुए अपने अनेक ध्रुवपदों[५] में अपने आश्रयदाता सम्राट अकबर का सादर उल्लेख किया है। यही नहीं उन्होंने एक ध्रुवपद में अब्दुर्रहीम 'खानखाना' को उनके ३१वें जन्मदिवस पर आशीर्वाद भी दिया है। इतिहास ग्रंथों के अनुसार रहीम का जन्म १७ सितम्बर, १५५६ ई० या १२ जिल्कण्द ९६३ हिजरी है। २८ वर्षीय अब्दुर्रहीम अपने पिता की सम्मानित उपाधि 'खानखाना' से सन् १५८४ ई० में सम्राट अकबर द्वारा विभूषित किये गए थे। अतः सुजानदास द्वारा 'खानखाना' को उनकी ३१वीं वर्षगांठ (यानी १२ जिल्काद ९९४ हि० या २५ अक्टू० १५८६ ई०) के अवसर पर एक पद द्वारा जो आशीर्वाद दिया गया है उसकी रचना १५८४-१५८६ ई० के बीच उनके फतेहपुर सीकरी के दरबार में उपस्थित रहने पर ही की गई होगी। इतिहास ग्रंथों के अनुसार 'खानखाना' एक बार गुजरात से अगस्त १५८५ ई० में लौटकर सम्राट के सम्मुख सीकरी दरबार में उपस्थित हुए थे। किन्तु दरबार में अधिक दिनों तक न रह सके और पुनः स्वामी का आदेश शिरोधार्य कर एक बार फिर जालार के मार्ग से गुजरात की ओर उन्होंने प्रयाण किया था। यह प्रयाण अक्टूबर १५८६ ई० के बाद ही कभी हुआ होगा इसमें सन्देह नहीं। खानखाना से सम्बन्धित ध्रुवपद इस प्रकार है—

राग आसावारो—तिताला

मुबारकबाद होय तुमको ब्रह्मा अरावल की तो।
एसो तीस बरस गाँठ गाँठन के वरके॥
शुभ दिन शुभ महूरत तुला चन्द्रमा छन्नकी धरके।
चिरंजी रहो खानखाना सुजान आशीर्वाद देत—
नर नारी तिहूँ पुर के॥[६]

मियाँ तानसेन का जन्म १५०६ ई० में हुआ था। उन्हें सम्राट अकबर ने १५६२ ई० में बांधवगढ़ के राजा रामचन्द्र बघेला के दरबार से अपने दरबार में बुलवा लिया था। जहाँ वे मृत्यु पर्यन्त अर्थात सन् १५८९ ई० तक रहे थे। इस प्रकार तानसेन अकबरी दरबार में केवल १५६२ से १५८९ ई० पर्यन्त रहे। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके जामाता सुजानदास उनके दरबार में आने के ५-६ वर्ष के बाद ही (लगभग १५६७ ई० में) अकबरी दरबार में आए होंगे और १५८९ ई० के अंत तक दरबार से निश्चय ही सम्बद्ध रहे होंगे। मियाँ तानसेन के तृतीय पुत्र विलास खाँ का जन्म अनुमानतः १५४७-४८ ई० और उनकी चतुर्थ कन्या सन्तान सरस्वती का जन्म १५५० ई० के आस-पास हुआ होगा। यदि तानसेन ने अपनी पुत्री का विवाह लगभग १६ वर्ष की आयु में १५६६ ई० में सुजानदास के साथ किया होगा तो विवाह के समय उनकी अवस्था उनकी प्रसिद्धि को देखते हुए कम से कम २४ वर्ष की अवश्य रही होगी। ऐसा अनुमान करने पर सुजानदास का जन्म १५४२ ई० और रामदास उर्फ़ नायक धोंडू को उनका पिता और उन्हें उनकी

चतुर्थ संतान (न कि खाँ तसद्दुक़ हुसेन खाँ के अनुसार चौथी पुश्त) स्वीकार करने पर धोंडु का जन्म १५१४ ई० के आस-पास होना मान सकते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र गुसाईं विट्ठलनाथ जी १५३८ ई० में सम्प्रदाय की गद्दी के स्वामी बनकर उसे नया रूप देने में लीन हुए थे। 'भाव प्रकाश सहित २५२ वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार नायक धोंडु ३० वर्ष की अवस्था में आगरा आया था और पीछे से महावन में अपनी जाति के लोगों से मिलने गया। वहाँ से गोकुल जाकर गुसाईं विट्ठलनाथ जी का शिष्य हो गया। जब नायक धोंडु गुसाईंजी से मिले होंगे तो उनकी उम्र ३० वर्ष से अधिक रही होगी। अतः उपर्युक्त गणना के अनुसार वह १५४४ ई० के बाद ही कभी गुसाईं जी से मिले होंगे।

'मादनुल मुसीकी' के अनुसार नायक धोंडु सम्राट हुमायूँ और अकबर के समय में विद्यमान थे। मुंशी जी के उक्त कथन से यह भी अर्थ निकलता है कि जब धोंडु ने नायक की उपाधि से विभूषित होकर गायन और मृदंग वादन की कला में प्रसिद्धि प्राप्त की तो उस समय मुगल सम्राट हुमायूं का शासन था। बाबर की मृत्यु के तीन दिन उपरान्त ९ जमादि-उल-अव्वल ९३७ हिजरी (२९ दिसम्बर १५३० ई०) को हुमायूँ आगरा के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था और १० मुहर्रम ९४७ हि० (यानी १७ मई १५४० ई० को शेरशाह सूरी के साथ होने वाले अंतिम निर्णायक युद्ध के दिन तक) वह भारत का शासक रहा। धोंडु इस काल तक 'नायक' की उपाधि प्राप्त कर प्रसिद्धि लाभ कर चुके थे, तभी मुंशी मुहम्मद करम इमाम खाँ ने लिखा है कि धोंडु हुमायूँ के शासनकाल में एक श्रेष्ठ गायक के रूप में माने जाने लगे थे। अतः इस समय उनकी अवस्था २५-२६ वर्ष और सम्राट अकबर जब २२ रबीउल-अव्वल ९६३ हिजरी (४ फरवरी १५५६ ई०) को सिंहासनारूढ़ हुआ तो नायक धोंडु की अवस्था ४२ वर्ष के करीब निश्चय ही रही होगी। मियाँ तानसेन का जन्म १५०६ ई० माना जाता है और धोंडु का जन्म १५१४ ई० निर्धारित किया है। इस प्रकार धोंडु तानसेन से उम्र में आठ वर्ष के लगभग छोटे रहे होंगे और १५४५-४६ ई० के लगभग वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व ही पद रचना करने लगे होंगे, इसमें सन्देह नहीं। उनके रचित ऐसे पाँच पद भी आज उपलब्ध हैं जो इस बात की पुष्टि में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अतः नायक धोंडु का पद रचना-काल उनके 'नायक' होने के पूर्व से ही मान सकते हैं। उक्त पदों की आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) रे सा सा रे ग म प ध, रे सा······।

(२) उत्तर मंद्रा रजनी उत्तरायता मत्सरी, अश्वकान्ता उदयात।

(३) गौरी साथ श्री शंकर राजत हिमाद्रि पर······।

(४) तुम बिन घूम-घूम घरे घेरति घटा कारी।

(५) सगुन सोहावन आजु लाये सुख।

रामदास उर्फ़ नायक धोंडु का जन्मकाल १५१४ ई०, उनके चतुर्थ पुत्र सुजानदास का जन्मकाल १५४२ ई० स्वीकार कर लेने पर सुजानदास के प्रथम पुत्र अलकदास का जन्म १५६८ ई० और विवाह १५८८ ई० में सहज ही स्वीकार किया जा सकता है।

अलकदास के विवाह में उसके नाना तानसेन भी सम्मिलित हुए थे किन्तु इस घटना के लगभग एक वर्ष बाद ही वह इस संसार से चल बसते हैं। इस प्रकार वाग्गेयकार सुजानदास का जीवनकाल कम से कम १५४२ से १५६० ई० पर्यन्त तो वैसे ही स्वीकार किया जा सकता है और यदि कम से कम उन्होंने ६० वर्ष की आयु भोग की हो तब तो वे १६०२ ई० तक विद्यमान रहे होंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। काल-निर्धारण के साथ ही इसी प्रसंग क्रम में यदि सुजानदास के दो पद भी प्रस्तुत कर दिए जायें तो अनुचित न होगा।

(१) मालश्रीचौताल

शिक्षाकार अनुकार रंजक भावक गायन तान प्रमाण।
धात मात योग ध्यान इन भेदन भेद
ध्यान शरीर की सुरत मंत्र बरवान॥
जे अलंकार सुर ताल प्रस्तार विस्तार
जानत सब बहु विध अंग-अंग सुजान।
शाह अकबर गुरुन गुरु संगीत कला निपुण न किए भए गान॥

(२) धनाश्री चौताल

नैनन शीश हाथ देखवे कों और श्रवण बचन सुनवे की।
कर छुवन और अंको भर भेंटत सुख पायौ, यह धरी जनम लेखवे की॥
पाछले विरह कों दुखदन्द गयो, सोतन अनख मुख पेखवे की।
अकबर शाह पिय सुजान मिले मोकों, परम विचित्र यातें निघरी सुख विलसने की॥

संदर्भ-संकेत

(१) 'नाहरी' मराठी की एक मिश्रित बोली। कांकर में प्रयुक्त एक रूप। यह हलवी से अत्यधिक सम्बद्ध है। (२) धोंड या धोंडु महाराष्ट्री होते हैं। यह उनकी एक उपाधि है- (३) चौथी पुश्त नहीं वरन् चौथे पुत्र के रूप में। (४) श्री रमणलाल मेहता कृत 'आगरा घराना : परम्परा, गायकी और चीज़ें' के आधार पर प्रस्तुत। (५) सुजान खाँ के अनेक ध्रुवपद 'संगीत राग कल्पद्रुम' में देखे जा सकते हैं। (६) देखें—संगीत राग कल्पद्रुम, खण्ड १, पृ० १९८।

राजस्थान के दि० जैन अपभ्रंश-साहित्यकार

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

प्राचीनकाल में टक्क, भादानक, मालवा और मेदपाद से संयुक्त मरुभूमि न केवल शूर-वीरता के लिए रण-भूमि में राजपूताना की आन-बान को गौरव प्रदान करने वाली थी, बल्कि विभिन्न विषयों की साहित्य-सर्जना में भी ऊर्जस्वित स्वरों को मुखरित करने वाली थी। युद्ध-क्षेत्र में रण-बांकुरों की भांति इस प्रदेश के साहित्यकारों में भी वाणी की तेजस्विता थी, जो सतत जन-चेतना को जाग्रत करती रहती है। यहाँ की भाषा भी सदा ओजस्फुरण वाली रही है। ओज गुण के अनुकूल ही मूर्धन्य वर्णों की प्रधानता इसी प्रवृत्ति की सूचक है। इसी प्रकार से राजस्थानी की रागात्मकता, स्वराघात तथा प्लुत आदि का प्रयोग अपने निरालेपन को सूचित करते हैं।

राजस्थान से अपभ्रंश का पुराना सम्बन्ध रहा है। अपभ्रंश भारत की पश्चिमोत्तर प्रदेश की बोली थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया यह बोली दक्षिण-पूर्व में फैलती गई। इसके प्रसार का सम्बन्ध आभीरों से बताया जाता है। इस देश के कई प्रदेशों में आभीरों का राज्य रह चुका है। नेपाल, गुजरात, महाराष्ट्र और पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों में कई आभीर राजाओं का राज्य था। आचार्य भरत मुनि ने हिमालय की तराई, सिन्धु प्रदेश और सिन्धु नदी के पूर्ववर्ती घाटी प्रदेश में बसने वाले वनेचरों की भाषा को आभीरोक्ति कहा है। राजशेखर अपभ्रंश का क्षेत्र सम्पूर्ण राजपूताना, पंजाब (पूर्व में व्यास नदी से पश्चिम में सिन्धु नदी तक का प्रदेश) और भादानक (भदावर) प्रान्त बताते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि दसवीं शताब्दी में अपभ्रंश राजस्थान में बोली जाती थी। पांचवी-छठी शताब्दी में यहाँ प्राकृत भाषा का प्रचलन था। सातवीं शताब्दी से अपभ्रंश के स्पष्ट उल्लेख मिलने लगते हैं। दसवीं शताब्दी तक आते-आते यह विभिन्न नाम-रूपों को ग्रहण करने लगती है। वस्तु-स्थिति यह है कि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के लिए अपभ्रंश एक सामान्य भूमिका रही है। इसलिए कोई क्षेत्रीय शब्द-रूपों के साथ इसे जूनी गुजराती कहता है, तो कोई प्राचीन पश्चिम राजस्थानी नाम से अभिहित करता है तो कोई देशी भाषा या अवहट्ट कहता

है। समय-समय पर अलग-अलग नाम विभिन्न स्थिति के सूचक रहे हैं। 'कुवलयमालाकहा' के विशेष अध्ययन से पता लगता है कि आठवीं शताब्दी में राजस्थान में अपभ्रंश बोल-चाल की भाषा थी। डा० ग्रियर्सन तथा अन्य भाषाशास्त्रियों के अनुसार अपभ्रंश के क्षेत्रीय रूप ठेठ बोलियाँ रही हैं। अपभ्रंश ने छठी शताब्दी में ही साहित्य का स्थान प्राप्त कर लिया था। अपभ्रंश के सुप्रसिद्ध महाकवि स्वयम्भू ने चतुर्मुखी, धूर्त, माउरदेव, धनदेव, आर्यदेव, छइतल, गोविन्द, शुद्धशील और जिनदास आदि का उल्लेख किया है, जो उनके पूर्ववर्ती कवि हैं। इनमें से चतुर्मुख और गोविन्द कृष्णविषयक प्रबन्ध-काव्य की रचना कर चुके थे। गोविन्द श्वेताम्बर जैन थे और चतुर्मुख दिगम्बर जैन आम्नाय के थे। अनुमान यह किया जाता है कि गोविन्द सौराष्ट्र के निवासी थे और चतुर्मुख राजस्थान के थे। महाकवि धवल ने कृष्णकथा (हरिवंशपुराण) की रचना चतुर्मुख के प्रबन्धकाव्य को ध्यान में रख कर की थी। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा और साहित्य से राजस्थान का प्रारम्भ से ही रागात्मक सम्बन्ध रहा है।

कविवर हरिषेण

राजस्थान के दिगम्बर जैन अपभ्रंश-कवियों में कविवर हरिषेण का समय तथा स्थान निश्चित रूप से ज्ञात है। उनका जन्म राजस्थान के चित्तौड़ नगर में हुआ था। राजस्थान के ही प्रसिद्ध वंश धक्कड़ (धर्कट) को उन्होंने विभूषित किया था। इस वंश में प्राकृत तथा अपभ्रंश के अनेक कवि हुए। कवि ने इस कुल का वर्णन निम्न-लिखित शब्दों में किया है—

इह मेवाड - देसि - जण - संकुलि,
सिरिउजहर - णिग्गय - धक्कड़कुलि।

उनके पिता का नाम गोवर्द्धन था, जो चित्तौड़ में रहते थे। उनकी माता का नाम गुणवती था। कविवर हरिषेण चित्तौड़ में ही रहते थे। किसी कार्य से वे एक बार अचलपुर गए। यह अचलपुर वर्तमान में आबू होना चाहिए। वैसे तो राजस्थान में अचलपुर नाम से कई ग्राम हैं, किन्तु कविवर ने 'जिणहर-पउरहो' कह कर जिस अचलपुर का संकेत किया है, वह आजकल का अचलगढ़ है। यहां पर अनेक जैन-मन्दिर हैं जो इतिहास-प्रसिद्ध हैं। बुध हरिषेण ने अलचपुर में रह कर 'धर्मपरीक्षा' की रचना की थी। कवि के ही शब्दों में—

सिरि - चिउडु चइवि अचलउरहो,
गयउ णियकज्जें जिणहर-पउरहो।
तहिं छंदालंकार - पसाहिय,
धम्मपरिक्ख एह तें साहिय॥ अन्त्य प्रशस्ति

काव्य की रचना पूर्व निबद्ध प्राकृत गाथा में जयराम कवि की 'धर्मपरीक्षा' के आधार पर की गयी थी। कविवर हरिषेण ने 'धर्मपरीक्षा' की रचना पद्धड़िया छन्द में वि० सं० १०४४ में की थी। कवि ने स्वयं निर्देश किया है—

विक्कमणिव परिवत्तिए कालए, गणाए वरिस सहसच उतालए।
इउ उप्पण्णु भवियजण सुहयरू, डंभरहिय धम्मासय-सायरु॥

यह काव्य ग्यारह सन्धियों में निबद्ध है। इसमें कुल २३८ कडवक हैं। पूर्ववर्ती कवियों में चतुर्मुख, स्वयम्भू, धुष्पदन्त, सिद्धसेन और जयराम का उल्लेख किया गया है काव्य में मनोवेग ओर पवनवेगके रोचक संवाद के माध्यम से जैनधर्म की उत्कृष्टता निरूपित की गयी है।

अपभ्रंश में इस रचना के पश्चात् भट्टारक श्रुतकीर्ति कृत 'धर्मपरीक्षा' की रचना हुई, जिसका रचना-काल वि० सं० १५५२ कहा गया है। यह काव्य कविवर हरिषेणे की 'धर्मपरीक्षा' के आधार पर लिखा गया। कथानक का ही नहीं, वर्णन का भी अनुगमन किया गया है। अतएव दोनों में बहुत कुछ साम्य लक्षित होता है। यद्यपि अद्यावधि इसकी एक ही अपूर्ण प्रति उपलब्ध है, किन्तु उसके आधार पर डॉ० जैन ने उल्लेख किया है कि प्रस्तुत कृति का कथानक हरिषेण कृत दसवीं सन्धि के छठे कडवक तक पाया जाता है। अनन्तर उसी सन्धि में ग्यारह कडवक और हैं, और फिर ग्यारहवीं सन्धि में सत्ताईस कडवकों की रचना है, जिनमें श्रावकधर्म का उपदेश दिया गया है। यह भाग श्रुतकीर्ति कृत 'धर्मपरीक्षा' विच्छिन्न हो गया है। सम्भवत: वह सातवीं सन्धि में ही पूरा हो गया होगा।[१] कविवर हरिषेण की 'धर्मपरीक्षा' निस्सन्देह मनोरंजक है। पं० परमानन्द शास्त्री के शब्दों में वह पौराणिक कथानकों के अविश्वसनीय तथा असम्बद्ध चित्रण से भरपूर है और उन आख्यानों को असंगत बतलाते हुए जैनधर्म के प्रति आस्था उत्पन्न की गई है। किन्तु उस में पुराण ग्रन्थों के मूल वाक्यों का कोई उल्लेख नहीं है।[२]

महाकवि धनपाल

जैन साहित्य में धनपाल नाम के कई साहित्यकारों का उल्लेख मिलता है। पं० परमानन्द शास्त्री ने धनपाल नाम के चार विद्वानों का परिचय दिया है।[३] ये चारों ही भिन्न-भिन्न काल के विद्वान् हुए। इनमें से दो संस्कृत भाषा के विद्वान् थे और दो अपभ्रंश के। प्रथम धनपाल संस्कृत के कवि राजा भोज के आश्रित थे, जिन्होंने दसवीं शताब्दी में 'तिलकमंजरी' और 'पाइयलच्छीनाममाला' ग्रंथों की रचना की थी। द्वितीय धनपाल तेरहवीं शताब्दी के कवि हैं। उनके रचे हुए ग्रन्थों में से अभी तक 'तिलकमंजरीसार' का ही पता लग पाया है। तृतीय धनपाल अपभ्रंश भाषा में लिखित 'बाहुबलिचरित' के रचयिता हैं। इनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी कहा गया है। ये गुजरात के पुरवाड वंश के तिलक स्वरूप थे। इनकी माता का नाम सुहडा देवी और पिता का नाम सुहडप्रभ था। चतुर्थ धनपाल का जन्म धक्कड़ वंश में हुआ था। इनका कोई विशेष परिचय नहीं मिलता है। इनके पिता का नाम मातेश्वर और माता का नाम धनश्री था। कहा जाता है कि इन्हें सरस्वती का वर प्राप्त था। इनकी रची हुई एक मात्र प्रसिद्ध रचना 'भविसयत्तकहा' (भविष्यदत्तकथा) उपलब्ध होती है। अन्य किसी रचना के निर्माण का न तो उल्लेख मिलता है और न कोई संकेत ही। पता नहीं, किस आधार पर डॉ० कासलीवाल ने कवि धनपाल की जन्म-भूमि चित्तौड़ मानी है[४]। इसका एक कारण तो यह कहा जाता है कि कवि धनपाल का जन्म उसी धक्कड़ कुल में हुआ था, जिसमें 'धर्मपरीक्षा' के कर्त्ता कविवर हरिषेण और महाकवि

वीर का जन्म हुआ था। यह वंश अधिकतर राजस्थान में पाया जाता है, इसलिए यह अनुमान कर लेना स्वाभाविक है कि कवि का जन्म राजस्थान में हुआ होगा। इसके अतिरिक्त 'भविष्यदत्तकथा' में कुछ राजस्थानी भाषा के शब्द भी पाये जाते हैं। हमारी जानकारी के अनुसार 'तीमण' तीमन या तेमन मिष्ठान्न केवल राजस्थान में ही बनाया जाता है। राजस्थानी संस्कृति के अभिव्यंजक निदर्शनों से भी यह सूचित होता है कि कवि धनपाल राजस्थान के निवासी होंगे। राजपूती आन-बान और शान का जो चित्रण महाकवि धनपाल ने किया है, वह अत्यन्त सजीव और हृदयग्राही है[५]। अतएव राजस्थान के प्रति उनका विशिष्ट अनुराग अभिव्यंजित है।

पं० लाखू

पं० लाखू विरचित 'जिनदत्तकथा' अपभ्रंश के कथाकाव्यों में एक उत्तम रचना मानी जाती है। कवि का जन्म राजस्थान में हुआ था। वे कुछ समय तक आगरा और बांदीकुई के बीच रायभा में रहे। हमारे विचार में पं० लाखू के बाबा रायभा के निवासी थे। वे जैसवाल वंश के थे। किसी समय वे सपरिवार तहनगढ़ में आ कर बस गये थे। तहनगढ़ बयाना से पश्चिम-दक्षिण में पन्द्रह मील दूर है। इसका प्राचीन नाम त्रिभुवनगिरि है। करौली राज्य के मूल संस्थापक राजा विजयपाल थे। इन्होंने १०४० ई० में विजयमन्दिरगढ़ नामक दुर्ग का निर्माण कराया था। विजयपाल मथुरा के यदुवंशी राजा जयेन्दपाल या इन्द्रपाल (९६६-९९२ ई०) के ग्यारह पुत्रों में से एक था। इसी विजयपाल के अठारह पुत्रों में से एक अत्यन्त पराक्रमी तिहुणपाल नाम का राजा हुआ। त्रिभुवनगिरि या तहनगढ़ इस तिहुण राजा ने बसाया था[६]। तहनगढ़ में प्राचीन काल से यदुवंशी राजाओं का राज्य रहा है। ऐतिहासिक उल्लेख के अनुसार विजयपाल के उत्तराधिकारों धर्मपाल और धर्मपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल हुए। महाबाण प्रशस्ति के अनुसार ११५० ई० में अजयपाल का वहाँ राज्य था[७]। परम्परा के अनुसार अजयपाल के पुत्र व उत्तराधिकारी हरपाल थे। महावन में ११७० ई० का हरिपाल का शिलालेख भी मिला है[८]। हरपाल के पुत्र कोशपाल थे, जो लाखू के पितामह के पिता थे। कोशपाल के पुत्र यशपाल के पुत्र लाहड थे। उनकी भार्या का नाम जिनमती था। उन दोनों के अल्हण, गाहुल, साहुल, सोहण, रयण, मयण और सतण नाम के सात पुत्र हुए। इनमें से साहुल पं० लाखू के पिता थे। इस प्रकार कवि के पूर्वज यदुवंशी राजघराने से सम्बन्धित थे। रचना की प्रशस्ति से स्पष्ट है कि कोसवाल यादव वंश के राजा थे और उनका यश चारों ओर फैला हुआ था। कवि के शब्दों में—

> जायसहोवंस उवयरणसिंधु गुणगरुअमाल भाणिवकसिंधु।
> जायव णरणाहहो कोसवालु जयरसमुद्दिय दिगचक्कवालु॥

कवि की रची हुई तीन रचनाओं का विवरण मिलता है। कवि की प्रारम्भिक रचना 'चंदणछट्ठीकहा' है जो एक इतिवृत्तात्मक लघुकाय रचना है। इसमें चन्दन षष्ठी व्रत का माहात्म्य एवं फल वर्णित है। दूसरी 'जिनदत्तचरित' वि० सं० १२७५ की रचना है। तीसरी 'अणुव्रतप्रदीप' का रचना-काल वि० सं० १३१३ है।

जिनदत्तकथा एक सशक्त रचना है, जिसमें संस्कृत काव्य-रचना की तुलना में प्रकृति का श्लिष्ट वर्णन तथा अलंकृत शैली में रूप-वर्णन आदि चित्रबद्ध रूपों में लक्षित होते हैं। हैं। कवि की सबसे सुन्दर तथा सजीव रचना यही है।

मुनि विनयचंद

मुनि विनयचंद ने 'चूनड़ीरास' नामक काव्य की रचना त्रिभुवनगढ़ में अजयनरेन्द्र के विहार में बैठ कर रची थी। अजयनरेन्द्र तहनगढ़ का राजा कुमारपाल का भतीजा था, जो राजा कुमारपाल के अनन्तर राज्य का उत्तराधिकारी बना था। त्रिभुवनगिरि या तहनगढ़ वर्तमान में करौली से उत्तर-पूर्व में चौबीस मील की दूरी पर अवस्थित है। तेरहवीं शताब्दी में वहाँ पर यादववंशीय महाराजा कुमारपाल राज्य करते थे। वि० सं० १२५२ में वहाँ मुसलमानी राज्य स्थापित हो गया था। त्रिभुवनगिरि जयपुर राज्य का तहनगढ़ ही है[९]।

'चूनड़ीरास' में ३२ पद्य हैं। चूनड़ी छपी हुई साड़ी को कहते हैं। प्रस्तुत कृति में चूनड़ी के रूपक से एक गीतिकाव्य की रचना की गई है। राजस्थान की महिलाएँ विशेष रूप से चूनड़ी ओढ़ती हैं। कोई मुग्धा युवती मुस्कराती हुई अपने प्रियतम से कहती है कि हे सुभग! आप जिनमन्दिर पधारिए और मेरे ऊपर दया कर शीघ्र ही एक अनुपम चूनड़ी छपवा दीजिए, जिससे मैं जिनशासन में विचक्षण हो जाऊँ। सुन्दरी यह भी कहती है कि यदि आप चूनड़ी छपवा कर नहीं ला देंगे, तो वह छीपा मुझ पर फबती कसेगा और उलाहना देगा। पति इन वचनों को सुनकर कहता है—हे मुग्धे! उस छीपा ने मुझ से कहा है कि मैं जैन सिद्धान्त के रहस्य से भरपूर एक सुन्दर चूनड़ी शीघ्र ही छाप कर दूँगा।

चूनड़ीरास के अतिरिक्त 'णिज्झरपंचमीकहारासु' और 'पंचकल्लाणरासु' भी मुनि विनयचंद कृत रचनाएँ उपलब्ध होती है। निर्झरपंचमीकहारासु की रचना त्रिभुवनगिरि की तलहटी में बैठ कर की थी। इसमें निर्झरपंचमी व्रत का माहात्म्य तथा फल बतलाया गया है। रचना संक्षिप्त तथा सुन्दर है। पंचकल्याणकरास में जैन तीर्थंकरों के पांच कल्याणकों की तिथियों का वर्णन किया गया है। रचना-काल तेरहवी शताब्दी अनुमानित है।

कवि ठक्कुर

कवि ठक्कुर सोलहवीं शताब्दी के अपभ्रंश तथा हिन्दी भाषा के कवि थे। इनका जन्म-स्थान चाटसू (राजस्थान) कहा जाता है। इनकी जाति खण्डेलवाल तथा गोत्र अजमेर था। इनके पिता का नाम 'घेल्ह' था, जो स्वयं एक अच्छे कवि थे। कवि का रचना-काल वि० सं० १५७८-१५८५ कहा गया है[१०]। पं० परमानन्द शास्त्री के अनुसार कवि ने वि० सं० १५७८ में 'पारस श्रवण सत्ताइसी' नामक एक रचना बनाई थी, जो ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करती है। कवि ने इसमें आँखों देखा वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त जिनचउबीसी, कृषणचरित्र (वि० सं० १५८०), पचेन्द्रियबेलि (वि० सं० १५८५) और नेमीश्वर की बेलि आदि रचनाएँ भी बनाई थी। परन्तु डॉ० कासलीवाल ने कवि की

उपलब्ध नौ रचनाओं का उल्लेख किया हैं, जो इस प्रकार हैं—इनकी एक रचना बुद्धिप्रकाश कुछ समय पूर्व अजमेर के भट्टारकीय शास्त्र-भण्डार में उपलब्ध हुई थी। ठक्कुरसी की अब तक ९ रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं, जिनके नाम निम्न प्रकार हैं[११]— (१) शकुनसत्तावीस (वि० सं० १५७५), (२) मेघमालाव्रतकथा (वि० सं० १५८०), (३) कृपण चरित्र (वि० सं० १५८५), (४) शीलबत्तीसी (वि० सं० १५८५), (५) पंचेन्द्रियबेलि (वि० सं० १५८५), (६) गुणावलि, (७) नेमिराजवलिबेलि, (८) सीमन्थरस्तवन (९) चिन्तामणि जयमाल। इन रचनाओं के अतिरिक्त इनके कुछ पद भी प्राप्त हुए हैं, जो विभिन्न गुटकों में संग्रहीत हैं।

हमारी जानकारी के अनुसार उक्त रचनाओं में से 'मेघमालाव्रतकथा' और 'चिन्तामणि जयमाल' ये दोनों रचनाएँ अपभ्रंश भाषा की हैं। मेघमालाव्रतकथा में ११५ कड़वक हैं। इसमें मेघमाला व्रत की कथा का संक्षिप्त तथा सरल वर्णन है। यह व्रत भाद्रपद मास में प्रतिपदा से किया जाता है। यह व्रतकथा पं० माल्हा के पुत्र कवि मल्लिदास की प्रेरणा से रची थी। चिन्तामणि जयमाल में केवल ११ पद्य हैं। इसमें संयम का महत्त्व बताया गया है। रचना का प्रारम्भ इस प्रकार किया गया है—

पणविवि जिणपासहु पूरण आसहु दूरुज्झिय संसार भलु।
चिंतामणि जं तहु मणि सुमरंतहु सुणहु जेम संजमह फलु ॥

उक्त विवरण के आधार पर पता लगता है कि कवि का रचना-काल वि० सं० १५७५ से लगभग १५९० तक रहा होगा। कवि ठक्कुर अपभ्रंश के एक अन्य कवि ठाकुरसी से भिन्न हैं। उनका परिचय निम्नलिखित है।

शाह ठाकुर

रचना में इनका नाम शाह ठाकुर मिलता है। अभी तक इनकी दो रचनाएँ ही उपलब्ध हो सकी हैं। एक अपभ्रंश में निबद्ध है और दूसरी हिन्दी में। 'शान्तिनाथचरित्र' एक अपभ्रंश काव्य है। यह पाँच सन्धियों में निबद्ध है। कवि की दूसरी रचना 'महापुराण-कलिका' है जो २७ सन्धियों में विरचित एक हिन्दी प्रबन्धकाव्य है। शान्तिनाथचरित्र में सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ का संक्षेप में जीवन-चरित्र वर्णित है। कवि ने यह प्रबन्ध-काव्य वि० सं० १६५२ में भाद्रपद शु० पंचमी के दिन चकत्तावंश के जलालुद्दीन अकबर बादशाह के शासनकाल में ढूंढाहड़ देश के कच्छपवंशी राजा मानसिंह के राज्य में बनाया था। राजा मानसिंह की राजधानी उस समय अंबावती या आमेर में थी[१२]। कवि के पितामह का नाम साहु सील्हा और पिता का नाम खेत्ता था। ये खण्डेलवाल जाति और लुहाड्या गोत्र के थे। ये भ० चन्द्रप्रभु के विशाल जिनमन्दिर से अलंकृत लुवाइणिपुर के निवासी थे। कवि संगीत, छन्द-अलंकार आदि में निपुण तथा विद्वानों का सतसंग करने वाला था। इनके गुरु अजमेर शाखा के विद्वान् भट्टारक विशालकीर्ति थे[१३]। अतः कवि राजस्थान का निवासी था। कवि की भाषा बहुत सरल है। अपभ्रंश की रचना होने पर भी उस समय की हिन्दी से प्रभावापन्न है। क्योंकि सतरहवीं शताब्दी में ब्रज भाषा अपने

उत्कर्ष पर थी। अतएव उससे प्रभावित होना स्वाभाविक था। उदाहरण के लिए कुछ अन्तिम पंक्तियाँ हैं—

जिणधम्मचक्क सासणि सरंति गयणय लहु जिम ससि सोह दिंति,
जिणधम्मणाण केवलरवीय तह अट्ठकम्ममल विलय कीय।

एत्तउ मांगउ जिणसंतिणाह महु जिज्जहु दिज्जहु जइ बोहिलाह। ५, ५६

कवि ने अपनी गुरु-परम्परा का विस्तार के साथ वर्णन किया है। दिल्ली से लेकर अजमेर तक प्रतिष्ठित भट्टारक-परम्परा का एक ऐतिहासिक दस्तावेज इस रचना की अन्तिम प्रशस्ति में उपलब्ध है।

मुनि महनन्दि

मुनि महनन्दि भट्टारक बीरचन्द के शिष्य थे। इनकी रची हुई एक मात्र कृति वारक्खडी या पाहुडदोहा उपलब्ध हुई है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति दिगम्बर जैन तेरहपंथी बड़े मन्दिर, जयपुर में क्रमांक १८२५, वेष्टत सं० १६५३, लेखनकाल वि० सं० १५९१ मिलती है[१४]। इस से यह निश्चित है कि रचना पन्द्रहवीं शताब्दी या इस से पूर्व रची गई होगी। डॉ० कासलीवाल जी ने इस का समय पन्द्रहवीं शताब्दी बताया है[१५]। इस के रचयिता एक राजस्थानी दि० जैन सन्त थे। किसी-किसी हस्तलिखित प्रति में कवि का नाम 'महयंद' (महीचन्द) भी मिलता है। इस कृति में ३३५ दोहे मिलते हैं। किसी-किसी प्रति में ३३३ दोहे देखने में आते हैं। अपभ्रंश में अभी तक प्राप्त दोहा-रचनाओं में निस्सन्देह यह एक सुन्दर एवं सरस रचना है। भाषा और भाव दोनों ही अर्थपूर्ण हैं। इस में लगभग सभी तरह के दोहे मिलते हैं। आत्मा क्या है ? इसे समझाता हुआ कवि कहता है—

खीरह मज्झह जेम घिउ तिलह मज्झि जिम तिल्लु।
कट्ठहु आरणु जिम वसह तिम देहहि देहिल्लु ॥२२॥

अर्थात-जैसे दूध में घी रहता है, तिल में तेल समाया रहता रहता है, अरनि काष्ठ में अग्नि छिपी हुई रहती है, वैसे ही शरीर के भीतर आत्मा व्याप्त है।

पवि हरिचन्द

अपभ्रंश में हरिश्चन्द्र नाम के दो कवि हो गए हैं। एक हरिश्चन्द्र अग्रवाल हुए, जिन्होंने अणत्थमियकहा, दशलक्षणकथा, नारिकेकथा, पुष्पांजलिकथा और पंचकल्याणक की रचना की थी। दूसरे कवि हरिचन्द राजस्थान के कवि थे। पं० परमानन्द शास्त्री के अनुसार कवि का नाम हल्ल या हरिइंद अथवा हरिचन्द है। कवि का 'वड्ढमाणकव्व या वर्द्धमानकाव्य विक्रम की पन्द्रहवीं शती की रचना ज्ञात होती है उस का रचनास्थल राजस्थान है[१६]। यह काव्य देवराय के पुत्र संघाधिपा होक होलिवर्म के अनुरोध से रचा गया था। कवि हरिचन्द ने अपने गुरु मुनि पद्मनन्दि का भक्तिपूर्वक स्मरण किया है। कवि के शब्द में—

पउमणंदि मुणिणाह गणिदहु चरणसरणगुरु कइहरिइंदहु।

मुनि पद्मनन्दि दि० जैन शासन-संघ के मध्ययुगीन परम प्रभावक भट्टारक थे। जिन्होंने अनेक प्रान्तों में ग्राम-ग्राम में विहार कर अनेक धार्मिक, साहित्यिक, समाजिक तथा सांस्कृतिक लोकोपयोगी कार्यों को सम्पन्न किया था। आप के सम्बन्ध में ऐतिहासिक घटना का उल्लेख मिलता है[१७]।

ब्रह्म बूचराज

ब्रह्म बूचराज या वल्ह मूलतः एक राजधानी कवि थे। इन की रचनाओं में इन के कई नामों का उल्लेख मिलता है—बूचा, वल्ह, वील्ह या वल्हव। ये भट्टारक विजयकीर्ति के शिष्य थे। ब्रह्मचारी होने के कारण इनका 'ब्रह्म' विशेषण प्रसिद्ध हो गया। डॉ० कासलीवाल जी ने इन की रची हुई आठ रचनाओं का उल्लेख किया है[१८]—मयणजुज्झ, संतोषतिलक जयमाल, चेतनपुद्गल-धमाल, टंडाणा गीत, नेमिनाथ वसतु, नेमीश्वर का बारहमासा, विभिन्न रागों में आठ पद, विजयकीर्ति-गीत। विजयकीर्ति-गीत में गुरु भ० विजयकीर्ति की स्तुति का गान किया गया है। इन रचनाओं में से केवल 'मयणजुज्झ' एक अपभ्रंश रचना है। मयणजुज्झ या मदनयुद्ध एक रूपक काव्य है। अपभ्रंश में ही महाकवि हरिदेव का भी 'मयणजुज्झ' काव्य मिलता है जो भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से प्रकाशित हो चुका है। मदनयुद्ध में जिनदेव और कामदेव के युद्ध का वर्णन किया गया है, जिस में अन्ततः कामदेद पराभूत हो जाता है। कवि का वसन्त-वर्णन देखिए—

> वज्जउ नीसाण वसंत आयउ छल्लकुंदसि खिल्लयं।
> सुगधं मलय-पवण झुल्लिय अंब कोइलल कुल्लियं।
> रुणझुणिय केवइ कलिय महुवर सुतरपत्तिह छाइयं।
> गावंति गीय वजति वीणा तरुणि पाइक छाइयं ॥३७॥

'सन्तोषतिलक जयमाल' भी एक रूपककाव्य है। इस में शील, सदाचार, सम्यग्ज्ञात, सम्यक्चारित्र, वैराग्य, तप, करुणा, क्षमा तथा संयम के द्वारा सन्तोष की उपलब्धि का वर्णन किया गया है। यह रचना वि० सं० १५९१ में हिसार नगर में लिखकर सम्पूर्ण हुई थी। यह एक प्राचीन राजस्थानी रचना है।

इन के अतिरिक्त अन्य कवियों में से अपभ्रंश-साहित्य की श्री-समृद्धि को समुन्नत करने वाले लगभग आठ-दस साहित्यकारों का उल्लेख किया जा सकता है। परन्तु उन के सम्बन्ध में कोई विवरण उपलब्ध न होने से कुछ भी कहना उचित प्रतीत नहीं होता है। हां, कुछ ऐसे विद्वानों का विवरण देना अनुचित न होगा, जिन्होंने स्वयं अपभ्रंश की कोई रचना नहीं लिखी, पर दूसरों को प्रेरित कर लिखने या लिखाने में अथवा प्रतिलिपि कराने में अवश्य योग दिया है। भट्टारक प्रभाचन्द्र का नाम इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दि० जैन आम्नाय में प्रभाचन्द्र नाम के चार भट्टारक विद्वानों के नाम मिलते हैं। प्रथम भट्टारक बालचन्द्र के शिष्य थे। दूसरे प्रभाचन्द्र चमत्कारी भट्टारक थे जो गुजरात

के बालत्कारगण शाखा के भ० रत्नकीर्ति के शिष्य थे। तीसरे प्रभाचन्द्र भ० जिनचन्द्र के शिष्य थे और चौथे प्रभाचन्द्र भ० ज्ञानभूषण के शिष्य थे[१९]। भट्टॉरक जिनचन्द्र के शिष्य प्रभा खण्डेलवाल जाति के थे। वि० सं० १५७१ में दिल्ली के पट्ट पर इन का अभिषेक हुआ। भट्टारक बनने के पश्चात् इन्होंने अपनी गद्दी दिल्ली से स्थानान्तरित कर चितौड़ में प्रतिष्ठित की। तब से ये बराबर राजस्थान में पैदल भ्रमण करते रहे। स्थान-स्थान पर इन्होंने मन्दिरों में मूर्तियों तथा साहित्य की प्रतिष्ठा का कार्य किया। ये स्वयं बहुत बड़े तार्किक तथा वाद-विवादों में विद्वानों का मद-मर्दन करने वाले थे। इन्हें स्थान-स्थान पर श्रावकों की ओर प्रतिलिपि करा कर स्वाध्याय के लिए कई अपभ्रंश काव्य भेंट में प्राप्त हुए थे।उनके नाम इस प्रकार हैं—पुष्पदन्त कवि 'जसहरचरिउ' की प्रति वि० स० १५७५ में, पं० नरसेन कृत 'सिद्धचक्र-कथा' टोंक में वि० सं० १५७९ में पुष्पदन्त कृत 'जसहरचरिउ' सिकन्दराबाद में वि० सं० १५८० में, इन के शिष्य ब्र० रत्नकीर्ति को महाकवि धनपाल कृत 'बाहुबलिचरित' वि० स० १५८४ में स्वाध्याय के लिए भेंट में प्रदान किया गया था[२०]। इस से पता चलता हैं कि सोलहवीं शताब्दी में अपभ्रंश साहित्य की अध्ययन-परम्परा बराबर बनी हुई थी।

यथार्थ में राजस्थान श्रमण जैन संस्कृति का अत्यन्त प्रचीन काल से एक प्रमुख केन्द्र रहा है। यहाँ प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, संस्कृत, हिन्दी आदि विभिन्न भारतीय भाषओं में लगभग सभी विषयों पर साहित्य लिखा जा रहा है। साहित्य, कला, पुरातत्त्व आदि दृष्टि से यह प्रदेश अत्यन्त समृद्ध है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इन सभी क्षेत्रों में जैन साहित्यकार कभी पीछे नहीं रहें हैं वरन वे अग्रतम पंक्ति में आते हैं, यह इस निबन्ध से प्रकट हो जाता है।

सन्दर्भ संकेत

१. डा० हीरालाल जैन : श्रुतकीर्ति और उन की धर्मपरीक्षा, अनेकान्त में प्रकाशित लेख, अनेकान्त, वर्ष ११, किरण २,पृ० १०६। २. जैन ग्रंथ प्रशस्ति-संग्रह, पृ० ५२। ३. प० परमानन्द जैन शास्त्री : धनपाल नाम के चार विद्वान कवि, अनेकान्त, किरण ७-८, पृ० ८२। ४. डा० कस्तूर कासलीवाल : ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों की भूमि—राजस्थान, अनेकान्त, वर्ष १६, किरण पृ० ७८। ५. द्रष्टव्य है : भविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश-कथाकाव्य, पृ०१०२–१४१। ६. डा० ज्योति प्रसाद जैन : शोधकण, 'जैन सन्देह' शोधांक, भाग २२ संख्या ३६, पृ० ८१। ७. द स्ट्रगल फार इम्पायर, भारतीय विद्याभवन प्रकाशन प्रथम संस्करण, पृ० ५५। ८. वही, पृ० ५५। ९. अगरचन्द नाहटा : त्रिभुवनगिरि व उस के विनास के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश, अनेकान्त, ८–१२, पृ० ४५७। १०. पं० परमानन्द जैन शास्त्री : जैन ग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह, प्रस्तावना, पृ० १४१। २. डा० कस्तूर-कासवलीवाल : अलभ्य ग्रन्थों की खोज, अनेकान्त में प्रकाशित, वर्ष १६, किरण ४, पृ०

१७०–१७१। १२ पं परमानन्द जैन शास्त्री : जैन ग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह, प्रस्तावना, पृ० १३० १३. वहीं, पृ० १३०-१३१। १. डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल : राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की ग्रन्थ-सूची, भाग २, पृ० २८७। २. डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल: राजस्थान के जैन सन्त–व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ० १७३। ३. पं० परमानन्द जैन शास्त्री : जैन ग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह, प्रस्तावना, पृ० ८६। ४. पं० परमानन्द जैन शास्त्री : राजस्थान के जैन सन्त मुनि पद्मनन्दी, अनेकान्त, वर्ष २२, कि० ६, पृ० २८५। ५. डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल : राजस्थान जैन सन्त–व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ० ७१। ६. डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल : राजस्थान के जैन सन्त—व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ० १७३। ७. वहीं, पृ० १८५।

कबीर : ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह

डॉ० विजेन्द्र नारायण सिंह

ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध पहला विद्रोह भगवान बुद्ध ने किया था। बुद्ध के समय तक वेदों में निरूपित यज्ञ-प्रधान संस्कृति पूरी तरह स्थापित हो चुकी थी और ब्राह्मण आचार सम्पूर्ण उत्तरापथ को पूरी तरह प्रभावित कर चुका था। यह एक विलक्षण बात है कि ब्राह्मण-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह वैदिककाल से पूर्वी प्रदेशों में ही होता रहा है। पूरव के व्रात्यों ने ही पहला विद्रोह किया था और यह आश्चर्य की बात नहीं है कि व्रात्य और उनके देश मगध के प्रति ब्राह्मण-ग्रंथों में घृणा का भाव मिलता है। और तो और, इधर के तुलसीदास जैसे कवियों में भी घृणा का यह भाव प्राप्त होता है। 'मगह गयादिक तीरथ जैसे' इस अर्धाली में घृणा वाला वही ब्राह्मण संस्कार प्रकट हुआ है। यों वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध उपनिषद में आवाज उठ चुकी थी। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "यह भी ध्यान में रखने की बात है कि पूर्वी प्रदेश में भारतीय इतिहास के आदिकाल से रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह करने वाले संत होते रहे हैं। वैदिक कर्मकांड के मृदु विरोधी जनक और याज्ञवल्क्य और उग्र विरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न हुए थे"। (हिन्दी साहित्य की भूमिका) कबीर भी इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न बुद्ध के बाद सबसे तेजस्वी संत हैं।

तब भी बुद्ध और महावीर द्वारा ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध जो विद्रोह हुआ था वह एक उच्च वर्ण द्वारा दूसरे उच्च वर्ण के विरुद्ध विद्रोह था। बुद्ध के समय तक क्षत्रियों की राजन्य संस्कृति पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुकी थी और ब्राह्मणों को वे धकियाने लग गये थे। बुद्ध के व्यक्तित्व में जिस नये धर्म की स्थापना हुई उसका संघर्ष ब्राह्मण धर्म से चलता रहा और भारत में यह धार्मिक लड़ाई वर्ण-व्यवस्था की पृष्ठभूमि में हो रही थी। बौद्ध धर्म को वास्तविक राजाश्रय मौर्यकाल में प्राप्त हुआ और यह ध्यान देने की बात है कि मौर्य सम्राट वृषल थे—शूद्र थे। पुराणों में इस बात की चर्चा आई है कि चन्द्रगुप्त मौर्य नापित वंश का था और इतिहासकारों का यह भी मत है कि उसने अपने अंतिम दिनों में

जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। जनुश्रुति है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैनियों की तरह उपवास कर शरीर त्याग किया था। चन्द्रगुप्त महान के ही पौत्र अशोक ने बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया, वह स्वयं बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ और बौद्ध धर्म का भारत के बाहर उसी ने पहली बार निर्यातभी किया। स्पष्ट ही मौर्य साम्राज्य ब्राह्मण-विरोधी था और यह साम्राज्य ब्राह्मणों की आँखोंमें खटकता रहा। बाद में अशोक की मृत्यु के बाद मगध का केन्द्रीय साम्राज्य जब कमजोर पड़ा तब पुष्यमित्र के नेतृत्व में ब्राह्मणों ने मौर्य साम्राज्य का मूलोच्छेद कर ब्राह्मण व्यवस्था को पूरी तरह प्रतिष्ठित कर दिया। तब से गुप्त साम्राज्य तक ब्राह्मण व्यवस्था पूरे प्रकर्ष पर रही और यह आश्चर्य की बात नहीं है कि ब्राह्मण व्यवस्था के सबसे बड़े कवि कालिदास गुप्त काल में ही उत्पन्न हुए। यों गुप्त लोग भी क्षत्रिय न होकर वैश्य थे। फिर भी उन लोगों ने गौ और ब्राह्मण की सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया क्योंकि वे लोग उन्हीं के बल पर सत्ता में थे। कालिदास पूर्वी गोलार्द्ध के महानतम कवियों में से हैं। किन्तु उनकीकविता का सबसे बड़ा अभाव यह है कि उनमें ब्राह्मण-व्यवस्था के प्रति असन्तोष का स्वर नहीं मिलता है। परिस्थितिवश कालिदास भी उसी व्यवस्था के समर्थक थे क्योंकि वे राज्याश्रित थे। उनके जैसे बड़े कवि से आज का सहृदय यदि इस विद्रोह की अपेक्षा रखताहैतो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता है।

गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद मौखरियों का साम्राज्य सबसे शक्तिशाली हुआ और इस साम्राज्य का संस्थापक ईशानवर्मन था जो स्वयं ब्राह्मण और क्षत्रिय नहीं बल्कि वैश्य था। स्वभावतः उसने बौद्ध-धर्म में दीक्षा ली। बौद्ध-धर्म की टिमटिमाती दीप-शिखा एक बार पुनः भभक उठी और इसे आकस्मिक संयोग नहीं माना जा सकता है कि उसके कुछ ही दिनों बाद ब्राह्मण-व्यवस्था के विरुद्ध प्रचंडतम आक्रमण करने वाले सिद्ध-कवियों का रचना-काल प्रारम्भ होता है। सिद्ध-कवियों ने ब्राह्मण-व्यवस्था को बहुत जोर से ललकारा था और अपनी कविताओं में उस व्यवस्था का मजाक उड़ाया। हिन्दी साहित्य का पहला परिच्छेद पूर्वी प्रदेशों में और मुख्यतः बिहार में लिखा गया था और यह ब्राह्मण-विरोधी था। हिन्दी-साहित्य की सम्पूर्ण परम्परा ब्राह्मण-विरोधी परम्परा है। और वे कवि भी—जैसा कि भक्तिकाल में तुलसीदास हैं, वर्णाश्रम का समर्थन कर रहे थे और ब्राह्मण व्यवस्था का समर्थन कर रहे थे, अन्ततः ब्राह्मण विरोधी ही हो जाते हैं। बौद्धधर्म को हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद बड़ा जबर्दस्त धक्का लगा था और शंकराचार्य के तेजस्वी व्यक्तित्व ने उसका पूरी तरह मूलोच्छेद ही इस देश में कर दिया। लेकिन शंकराचार्य के सैकड़ों वर्ष बाद जो सांस्कृतिक और धार्मिक आन्दोलन इस देश की मनीषा ने गढ़े वह मुख्यतया ब्राह्मण-विरोधी है। भक्ति-आन्दोलन वर्णाश्रम एवं ब्राह्मण व्यवस्था का विरोध करता है। बहुत सूक्ष्मता से देखने पर यह भी बोध होता है कि शंकराचार्य के प्रयास के बावजूद ब्राह्मण-विरोधी भावनाएँ बची रहीं और इसका प्रसार किसी न किसी रूप में होता रहा। विचारों की अभिव्यक्ति से भी ऐसा लगता है कि शंकराचार्य के बाद भी बौद्धों का प्रबल प्रभाव बना रहा और यह उदयन के इस वाक्य से स्पष्ट होता है जब वह ईश्वर को यह कहकर

धिक्कारता है कि हम अपनी वकालत से तुम्हें बौद्धों से बचा रहे हैं फिर भी तुम हम पर दया नहीं करते । शंकराचार्य की बड़ी सफलता के बावजूद ब्राह्मण व्यवस्था इस देश में उसके बाद स्थिर पद पर नहीं बनी रह सकी । जिस प्रकार बरसात के आने पर आक-जवास के पत्ते गल जाते हैं उसी प्रकार भक्ति का मेघजल जो सम्पूर्ण भारतीय आकाश में उमड़ा उसमें ब्राह्मण व्यवस्था का एक-एक पत्ता गल गया । भारत में पूँजीवादी व्यवस्था की स्थापना भक्ति-आन्दोलन की पीठ पर हुई और इसीलिए जब भारत में नवोत्थान आया तब वर्णाश्रम और ब्राह्मण व्यवस्था की रूढ़ियों को एक ही धक्के में ध्वस्त कर दिया गया । नवोत्थान के अधिकांश नेता ब्राह्मण ही थे किन्तु उनका मन नया था । उनमें से किसी ने भी मनु का विधान स्वीकार नहीं किया और उस नये भारत की रचना हुई जिसमें सामासिक संस्कृति के सभी तत्त्वों का मिश्रण है ।

ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध जो सही विद्रोह मध्य युग में हुआ उसका नेतृत्व कबीर ने किया । इस विद्रोह के वे सबसे बड़े नेता हैं । वे अत्यन्त ही प्रखर और तेजस्वी व्यक्तित्व लेकर उत्पन्न हुए थे और इस व्यक्तित्व के अणु-अणु का उपयोग उन्होंने ब्राह्मण व्यवस्था के प्रहार करने पर किया है । भक्ति इस विद्रोह का हथियार है । भारतीय धार्मिक परम्परा में भक्ति बड़ी ही क्रांतिकारी उद्भावना है और यह उद्भावना ब्राह्मण व्यवस्था के विरोध में है । भक्ति स्वयं ब्राह्मण विरोधी तत्त्व है । ब्राह्मणों ने यज्ञ प्रधान, आचार प्रधान और तीर्थ प्रधान धार्मिक परम्परा को प्रतिष्ठित किया था तथा पुराण और स्मृतियाँ इसी के आख्यान हैं । भक्ति ने इन सारी चीजों का विरोध किया और नाम की महिमा प्रतिष्ठित की । नाम की महिमा आचार प्रधान ब्राह्मण व्यवस्था पर सीधा प्रहार है । भक्ति का तत्त्व पहली बार दक्षिण में उत्पन्न हुआ था और आश्चर्य की बात नहीं कि ब्राह्मण व्यवस्था की सबसे कठोर जकड़बंदी दक्षिण में ही थी । एक सूक्ति है—

भक्ति द्राविड़ उपजी, लाए रामानन्द ।
परगट किया कबीर ने, सप्त द्वीप नव खंड ।।

तात्पर्य यह कि दक्षिण में उत्पन्न होने वाली भक्ति को कबीर ने उत्तर में प्रचारित और प्रसारित किया । इस प्रकार वे उत्तर में भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक और नेता सिद्ध होते हैं ।

वे स्वयं अस्पृश्य परिवार में उत्पन्न हुए थे और उसकी सारी कटुताओं को उन्हें झेलना पड़ा था । परिणामतः उन्होंने चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था पर सीधा प्रहार किया । शुरू-शुरू में चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था का आविष्कार बहुत ही स्वच्छ दृष्टि से हुआ था और सच पूछा जाय तो मानवीय प्रकृति की मीमांसा में भारतीय चिन्तन की यह बहुत बड़ी मौलिक देन है । जिन लोगों ने यह वर्गीकरण किया था, उनकी नीयत में कोई खोट नहीं थी और वे लोग इस वर्गीकरण के द्वारा समाज और व्यवस्था को गतिशील बनाना चाहते थे । उन्होंने मनुष्य की चार प्रवृतियों का भावन किया था । कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो बहुत ही सात्विक वृति के होते हैं और निर्लोभी होते हैं । अध्ययन-अध्यापन में उनका मन सहज रूप से रमता

है। इस प्रकृति के लोगों को ऋषियों ने ब्राह्मण कहा था। कुछ लोग राजसी प्रकृति के होते हैं और उनमें प्रभुत्व की बड़ी प्रबल लालसा रहती है। वे प्रवृत्ति से ही शूरवीर होते हैं। ऐसे ही लोगों को ऋषियों ने क्षत्रिय कहा था। जैसे कविता लिखने की प्रतिभा होती है, उसी प्रकार अर्थोपार्जन की भी प्रतिभा होती है। जिस प्रकार दश सहस्त्र अप्रतिभ व्यक्ति मिलकर भी कालिदास जैसी कविता नहीं लिख सकते हैं उसी प्रकार दश सहस्त्र व्यक्ति मिलकर भी रॉक फेलर या बिड़ला जैसी आर्थिक प्रतिभा में रूपान्तरित नहीं हो सकते हैं। ऐसी ही प्रतिभा और प्रकृति के लोगों को ऋषियों ने वैश्य कोटि में रखा था और कुछ लोग इस प्रकृति के होते हैं जो कारीगरी और कृषि जैसी उपयोगी कलाओं में रमते हैं। ऋषियों ने इस प्रकृति के लोगों को शूद्र कहा था। बहुत दिनों तक चातुर्वर्ण्य गतिशील कोटि के रूप में था और प्रकृति के अनुरूप ही ब्राह्मणत्व या क्षत्रियत्व आदि का निर्धारण चलता था। ब्राह्मण वंश में उत्पन्न व्यक्ति भी शूद्र की कोटि में गिना जाता था और शूद्र की कोख से उत्पन्न व्यक्ति भी ब्राह्मण माना जाता था। ब्राह्मण पाराशर के पुत्र कृष्ण द्वैपायन व्यास मछुआरिन मां से उत्पन्न हुए थे। लेकिन वे ब्राह्मण ही माने गये। सच पूछा जाय तो मछुआरिन पुत्र व्यास से श्रेष्ठ ब्राह्मण इस देश में हुआ ही कौन? लेकिन व्यास के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र पाण्डव और कौरव इत्यादि ब्राह्मण नहीं गिने जाकर क्षत्रिय माने गये। लेकिन पुराण की कथाओं से यह लगता है कि निहित स्वार्थ घुसने लग गये थे और क्षत्रिय विश्वामित्र को ब्राह्मण बनने के लिये बहुत ही संघर्ष करना पड़ा था।

पंडितों का मत है कि वाल्मीकि रामायण भगवान बुद्ध के बाद की रचना है। वाल्मीकि रामायण से इस बात का संकेत मिलता है कि इसकी रचना के समय तक रूढ़ियाँ बनने लगी थीं और ब्राह्मणत्व कर्मणा नहीं रहकर जन्मना होने लग गया था। आठ ब्राह्मणों के परामर्श पर राम ने तपस्यारत शूद्र तपस्वी शंबूक का वध किया। मनुस्मृति का रचना-काल भी लगभग यही रहा होगा या वह इसके बाद की रचना होगी। चातुर्वर्ण्य का चिन्तन हमारे ऋषियों का बड़ा ही अद्भुत चिन्तन था। लेकिन जब यह कर्मणा नहीं होकर केवल जन्मना रह गया तब बहुत बड़ा अन्याय हो गया और लगभग दो हजार वर्षों से यह अन्याय इस देश में चलता रहा है।

कवि और लेखक स्वभाव से ही विद्रोही प्रकृति के होते हैं। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि समय के दृष्टिकोण से सिद्ध कवि अपने समय के विद्रोही कवि थे और उसी प्रकार भक्त कवि भी अपने समय के विद्रोही कवि कहे जा सकते हैं क्योंकि उन्होंने भी ब्राह्मण व्यवस्था पर सीधा प्रहार किया है। जब पन्द्रहवीं शती में वैष्णव आन्दोलन जोर पकड़ता है तब सिद्धों की यह विद्रोही चिनगारियाँ भक्ति आन्दोलन को रिक्थ के रूप में प्राप्त होती हैं। भक्ति आन्दोलन संसार का सबसे बड़ा धार्मिक आन्दोलन है। अपने परिणाम और विस्तार में यह बौद्धधर्म और ईसाई धर्म के आन्दोलनों से भी बड़ा है। इसी महान धार्मिक आन्दोलन के युग प्रवर्तक कवि कबीर हैं।

सौभाग्य से कबीर जाति के जुलाहा थे। इस जाति की गिनती अन्त्यज में होती है।

सौभाग्य से वे काशी में उत्पन्न हुए थे जो मध्यकाल में ब्राह्मणत्व का गढ़ था। ब्राह्मण-व्यवस्था के गढ़ में ही बैठकर वे ब्राह्मण व्यवस्था पर गोला बारी करते रहे। उन्होंने पहला प्रहार चातुर्वर्ण्य पर ही किया। ब्राह्मणों ने चातुर्वर्ण्य पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाया था और तपस्यादि को ब्राह्मण और क्षत्रिय तक ही सीमित कर दिया था। उन्होंने इसके विरोध में नया मूल्य स्थापित किया। उन्होंने कहा—'हरिजन सईं न जाति' भक्त के समान कोई दूसरी जाति नहीं है। यानी जो भक्त है वह यदि अस्पृश्य भी है तब भी ब्राह्मणों से श्रेष्ठ है। इस प्रकार वर्णाश्रम की अन्यायपूर्ण व्यवस्था पर उन्होंने भक्ति के हथियार से प्रहार किया। जाति सदियों से इस देश की नियति रही थी और मनुष्य की बड़ी से बड़ी वेदना को जाति से जोड़ा जाता रहा था। कबीर के कुछ बाद ही तुलसी ने कहा—'सबसे कठिन जाति अवमाना।' कबीर उस समाज में उत्पन्न हुए थे जहाँ जाति का ही सबसे बड़ा मूल्य था। साधुओं-संन्यासियों का भी महत्त्व जाति से ही कूता जाता था। कबीर नया मूल्य स्थापित करते हुए कहते हैं—

'जाति न पूछो साधू की, पूछ लीजिये ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥'

जो व्यक्ति अपनी व्यवस्था और समाज में खप नहीं पाता है, ऐसे व्यक्ति को प्रखर अंग्रेज विचारक कोलिन विल्सन ने आउट साइडर कहा है। भक्तिकाल का प्रत्येक कण ऐसा ही आउट साइडर था। वह रूढ़ि, व्यवस्था और परम्परा को छोड़कर चलना चाहता था। कबीर मध्यकाल के पहले व्यवस्था विरोधी या व्यवस्थाच्युत व्यक्ति हैं। वे एक साथ ही लोकशास्त्र, वेद, मंत्र, व्यवस्था आदि को तिलांजलि देते हुए आगे बढ़ते हैं और सब कुछ को धक्का देते हुए मनुष्य को भक्ति के पथ पर आगे बढ़ने के लिए आहूत करते हैं। सामाजिक संग्राम के वे बड़े भारी योद्धा थे। ब्राह्मणों के लिये 'आन राह तू काहे न आया' कहने का सामर्थ्य काशी के इस जुलाहा को वस्तुतः भक्ति के सर्वातिशायी तत्त्व ने प्रदान किया था।

जैसा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है—पंडित को कबीर घटिया जीव समझते हैं। बड़ी उपेक्षा से वे उसे पांडे कहते हैं, वे कहते हैं कि अगर भगवान को वर्ण-विचार होता तो वे मानव के जन्म से ही तीन विभाजक रेखाएं खींच देते। उत्पत्ति की दृष्टि से सब जीव समान हैं; न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा—

"जौ पै करता बरण बिचारै।
तौ जनमत तीनि डांडी किन सारै ॥
उतपति चंद कहाँ थै आया जोति धरी अरु लागी माया।
नहिं कोउ ऊँचा नहिं कोउ नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा ॥
जो तूं बाभन बभनीं जाया, तो आँन बाट ह्वै काहे न आया।
जो तूं तुरक तुरकनीं जाया, तौ भीतरि खतनाँ क्यू न कराया ॥"

पंडित को कटूक्ति सुनाते हुए वे कहते हैं कि जैसे गदहा चंदन का भार वहन करता है, पर उसकी सुगंधि से अभिभूत नहीं होता, वैसे ही पंडित तू भी वेद और पुराण पढ़ता तो है, पर तू राम-नाम के वास्तविक तत्त्व को नहीं समझता है। इसी से अन्त में तेरे मुँह में धूल पड़ेगी।

"पांडे कौन कुमति तोहि लागी
तू राम न जपहि अभागी
वेद, पुरान पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसे भारा
राम-नाम तत समझत नाहीं, अंति परै मुखि छारा
वेद पढ़यां का यह फल पांडे, सब घटि देखै रामा।"

कबीर कहते हैं कि ब्राह्मण को तत्त्वानुभव नहीं हुआ है, इसलिए उसकी बात की न तो कोई कीमत है और न कोई उसकी बात को मानता है। अगाध में प्रविष्ट होकर यदि पंडित एक भी बात कह दे तो इसे महाआश्चर्य समझना चाहिए। यथा;

"पंडित सेति कहि रहै, कहा न मानै कोइ
ओ अगाध एका कहै, भारी अचिरज होइ"

इस प्रकार वे ब्राह्मण के ज्ञान को बासी मानते हैं और उसके व्यक्तित्व को पाखंड-पूर्ण मानते हैं।

वस्तुत: पंडित को चुनौती वे आत्मानुभूति के धरातल पर देते हैं। पंडित ने शास्त्र पढ़ा है, लेकिन परमात्मा का साक्षात्कार नहीं किया है। पंडित को परमतत्त्व की अनुभूति नहीं हुई है। परम तत्त्व की अनुभूति करने वाले कबीर भला पंडित को क्या समझते। अपनी आत्मानुभूति के महालोक दर्प से भरी पंक्तियाँ वे कहते हैं--

"लिखा - लिखी की है नहीं, देखा - देखी बात
दूल्हा - दुल्हिन मिल गए, फीकी पड़ी बरात"

कबीर का ज्ञान आत्म-ज्ञान था। आज की समालोचना की भाषा में कहना यह चाहिए कि उनकी कविता प्रामाणिक अनुभूति की कविता है। ठीक इसके विपरीत उनके समय के ब्राह्मण समाज का ज्ञान पोथी से प्राप्त ज्ञान था, थोथा ज्ञान था, उस थोथे ज्ञान पर प्रहार करते हुए कबीर कहते हैं—

"चार्‌यूं बेद पढ़ाइ करि, हरि सूं न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूंढ़ै खेत॥"

यानी प्रेम-रस व ज्ञान रूपी अन्न से भरी हुई बालि तो कबीर ले गया और तथाकथित पंडित सार शून्य शब्दों के खेत को ही ढूंढ़ता रहा।

ऐसा पाखंडी ब्राह्मण किसी परमात्मान्वेषी का गुरू कैसे हो सकता है? ऐसे गुरुओं की पंडिताई मात्र अर्थकरी होती है, उससे उनकी रोजी-रोटी चलती है, पर वे किसी में आत्मज्ञान जाग्रत कर परमात्मा तक कैसे पहुँचा सकता है?

"ब्राह्मण गुरू जगत का, साधू का गुरू नाहिं
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउं बेदाँ माँहिं"

महाप्रभु चैतन्यदेव के जीवन का एक प्रसंग है कि युवावस्था की पहली लहर में वे काशी आये थे और एक अस्सी वर्ष के वयोवृद्ध पंडित ने उन्हें वेद पढ़ाना आरम्भ किया। एक सप्ताह पढ़ने के बाद चैतन्यदेव ने उस पंडित से ये कहा कि वेदों का अर्थ तो बड़ा साफ है लेकिन आप से एक सप्ताह पढ़ते-पढ़ते सभी अर्थ उलझ गया है। ऐसे ही दर्प से भरे कबीर पाखंडी पंडित को कहते हैं—

"मैं कहता सुरझावन हारी, तू कहता अरूझाई रे"

पंडित जब परमात्मा का बखान करता है तो बात और उलझ जाती है। पंडित का आचार उन्हें पाखंड से भरा हुआ दीखता है। मनुष्य जन्म से समान है। लेकिन समाज उसे रूढ़ियों में जकड़ डालता है। समाज ने भाँति-भाँति की क्यारियाँ गढ़ डाली हैं और एक क्यारी का बिरवा दूसरी क्यारी में नहीं जा सकता है। इस प्रकार कवि जातिवाद और छुआछूत सबको पाखंड मानते हैं और कहते हैं—

"पाड़ोसी सू रूसणां, तिल तिल सुख की हांणि।
पंडित भए सरावगी पाँणी पीवें छांणि॥"

पंडित सरावगी हो गए हैं और पानी को छान कर पीने लगे हैं अर्थात् वे ढोंग करते हैं और दूसरे के धर्म की अनावश्यक नुक्ताचीनी और छान-बीन करने लगे हैं। पंडित ने इस संसार को पाषाण मूर्तियों से भर दिया है और इसी के आधार पर वह यजमान से पैसा ऐंठता है।

"काजल केरि कोठरी, मसि के कर्म कपाट
पाहनि बोई पृथ—; पंडित पाड़ी बाट"

इस प्रकार वे कौलिन्य के गर्व को चुनौती देते हैं और उसकी तुलना में कर्म को श्रेष्ट मानते हैं—

"ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जे करणी ऊँच न होइ।
सोवन कलस सुरै भरया, साधू निंद्या सोइ॥"

इस प्रकार कबीर ने सामाजिक कुरीतियों के झाड़-झंखाड़ को साफ कर उच्चतर मानव का पथ प्रशस्त किया।

कबीर के समय तक चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था बहुत पुरानी हो चुकी थी और जातिवाद ने गहरी जड़ जमा ली थी। बौद्ध धर्म के आन्दोलन ने भी इसके मूलोच्छेद में सफलता नहीं प्राप्त की। बौद्ध-धर्म के उत्कर्षकाल में भी ब्राह्मण धर्म कभी लुप्त नहीं हुआ, अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि वह थोड़ा कमजोर पड़ गया था। लेकिन ज्यों ही बौद्ध-धर्म के उत्तरकाल में जब कि बौद्ध-धर्म हीनयान, सहजयान आदि अनेक खंडों में विभक्त हो गया, तब ब्राह्मण व्यवस्था ने एक बारगी ही उस पर प्रहार किया और उसका दम टूट गया। इसलिए वर्णाश्रम व्यवस्था के अतिशायी तत्त्व के रूप में भक्ति का तत्त्व आया। वर्णाश्रम को ध्वस्त करने वाला तत्त्व है भक्ति। भक्ति से युक्त व्यक्ति न तो ब्राह्मण होता है और न चांडाल बल्कि वह केवल भक्त होता है। कबीर कहते हैं कि हल्दी पीली हो ती

है और चूना श्वेत, पर दोनों मिलकर एवं अपना रंग मिटाकर लाल रंग की रोली में परिणत हो जाते हैं--

"कबीर हरदी पीलरी, चूना उजल भाय
राम सनेही यूँ मिले, दुन्यू बरन गमाय"

यानी राम के भक्त विभिन्न जातियों का परित्याग कर एकाकार हो जाते हैं और उनके विभिन्न साम्प्रदायिक भाव ईश्वर-प्रेम की लालिमा में समाहित हो जाते हैं और तब काबा और काशी या राम और रहीम का भेद नहीं रहता।

"काबा फिर काशी भया, राम भया रहीम।
मीठ चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम॥"

इस प्रकार भक्ति के द्वारा वे सामाजिक पार्थक्य को मिटाते हैं और मनु के विधान का अतिक्रमण करते हैं।

इसी संदर्भ में मध्यकालीन प्रेम-साधना को भी समझा जा सकता है। मध्यकाल के कवियों ने प्रेम को सबसे बड़ा पुरुषार्थ माना। समाज की क्यारियों को ध्वस्त करने के लिए ये कवि प्रेम की शरण में गए थे। यह ध्यान देने की बात है कि इससे पूर्व का भारतीय साहित्य प्रेम को परम-पुरुषार्थ के रूप में नहीं स्वीकार करता है। इससे पूर्व जो संस्कृति निर्मित हुई थी, वह आचार-प्रधान संस्कृति थी; कायदों की पाबंद संस्कृति थी और जो सभ्यता, नियमों और कायदों की पाबंद बन जाती है, वह सभ्यता सरोवर के बँधे हुए जल की तरह दूषित हो जाती है। इसलिए कबीर ने शास्त्रज्ञान का तिरस्कारकिया और प्रेम को प्रतिष्ठित किया। 'मसि कागद़ छूओ नहिं, कलम गह्यो नहि हाथ' कहने में जो गर्व प्रकट हुआ है, वह इसी संदर्भ में समझा जा सकता है। कबीर पहले भारतीय कवि हैं जो इतना रीझकर प्रेम की महिमा का बखान करते हैं—

"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढ़ाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥"

भला पंडिताई और प्रेम का क्या सम्बन्ध हो सकता है? लेकिन यह सम्बन्ध है। पंडितों ने शास्त्रज्ञान तो प्राप्त किया था, लेकिन परमात्मा की उन्हें अनुभूति नहीं हुई थी। ब्राह्मण और चाण्डाल की भेद-बुद्धि रखने वाला व्यक्ति परमात्मा की अनुभूति कैसे कर सकता है? जो इन्सान से प्रेम नहीं कर सकता है, वह भगवान से प्रेम करने का सामर्थ्य कैसे प्राप्त कर सकता है? व्यक्ति और समाज को पिंड, और ब्रह्माण्ड को जोड़ने वाला तत्त्व है प्रेम। इसलिए प्रेम वस्तुतः सामाजिक तत्त्व है। प्रेम और अहमंन्यता में कोई सम्बन्ध नहीं है। पंडित अहंमन्य होता है, इसीलिए कबीर कहते हैं—यह पंडित पोथी पढ़-पढ़ कर गल-पच गया, लेकिन वास्तविक पंडिताई उसे प्राप्त नहीं हुई। मनुष्य और मनुष्य में जो भेद करता है, वह मनुष्य की महिमा को तिरष्कृत करता है। मनुष्य की महिमा अहंमन्य बनने में नहीं है; वरन् विनीत बनने में है। इसलिए कबीर कहते हैं—

"प्रेम न खेती उपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-प्रजा जेहि रुचै, सीस देहि ले जाय॥"

सीस देना यानी अहंमन्यता का विसर्जन करना। इस प्रेम की महिमा के बखान में कबीर

का हृदय-तत्त्व दलित-द्राक्षा की तरह चू पड़ा है। इसी की धारासार वर्षा में भींग कर काशी का यह जुलाहा एक नये युग का नेता बन गया। कबीर से जो प्रेम-तत्त्व की परम्परा चली उसने बाद के सारे भारतीय साहित्य को यहाँ से वहाँ तक प्रभावित कर दिया। कबीर के ये महिमामय पद गंगा की धारा में संतरण करते हुए यदि शान्तिनिकेतन की सीढ़ियों से नहीं टकराते तो रवि बाबू आधुनिक साहित्य के रवीन्द्र नहीं हुए होते।

तब बड़ा-से-बड़ा विद्रोही बड़े-से-बड़ा क्रान्तिकारी भी कहीं-न-कहीं टूटता है, कहीं-कहीं झुकता है। परम्परा और रूढ़ियों के मलबे बड़े जबर्दस्त होते हैं और कहीं-न-कहीं वे व्यक्ति को दबोच लेते हैं। कबीर में एकाध पंक्ति ऐसी भी मिलती है, जहाँ यह संकेत मिलता है कि अस्पृश्य जाति जन्म में लेने की कोई कचोट उनके मन में थी। पंक्तियाँ हैं—

> "पूरब जनम हम ब्राह्मण होते, आछै करम तपहीना।
> रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हां ॥"

जन्मांतरवाद में वे भी विश्वास करते थे और पूर्व जन्म के दुष्कर्मों को ही उन्होंने इस जन्म में जुलाहा जाति में जन्म लेने का कारण मान लिया। लेकिन यह तो उनके महान् साहित्य की क्षणिक विचलन भर है। सम्पूर्ण क्रान्ति के वे प्रथम शलाका पुरुष थे। मनुष्य की महिमा को प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने भाखा के बहते नीर में अपनी सरस्वती को स्नान कराया। ब्राह्मणों से जुड़ी भाषा होने के कारण वे 'संसकीरति है कूप जल' यह सोचना कि वे संस्कृत शब्द का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सके होंगे, बेहूदापन है। वस्तुत: वे संसकीरति कहकर कटूक्ति कर रहे हैं, ब्राह्मणों और उनकी भाषा को बना रहे हैं। जब वे 'मसि कागद छूयौ नहिं' कहते हैं, तो यह बात ठीक हो सकती है, लेकिन वे वस्तुत: वहां आत्मानुभूति पर बल दे रहे हैं। इसी तेजस्विता के कारण वे इतने दर्द के साथ कह सके—

> "तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा
> पूछहु मोर गियाना।"

पतंजलि के भाषा सम्बन्धी विचार

●

डॉ० वि० कृष्ण स्वामी अयंगार

मानव जीवन में भाषा का महत्त्व इतना अधिक है कि भाषा को जीवन का मूलाधार कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। हमारे समस्त ज्ञान का माध्यम और ज्ञान के विकास का प्रमुख साधन भाषा ही है। संसार में आज तक विकसित सभी विद्याओं का आधार भाषा ही है।

वाक् या भाषा न होती तो धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य आदि का भेद ही ज्ञात नहीं होता। भाषा के बिना मानव का सामाजिक व्यवहार असंभव है।

भाषा के संबंध में भारतीय शास्त्रकारों ने खूब चर्चा की है। वैयाकरणों के लिए तो मुख्य आलोच्य विषय ही भाषा है। अन्य शास्त्रों में भी भाषा के विविध पक्षों का विवेचन हुआ है। ऐसे शास्त्रकारों में महर्षि पतंजलि का प्रमुख स्थान है। पतंजलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'व्याकरण महाभाष्य' के नाम से प्रौढ़ और विस्तृत टीका लिखी है।

'भाषा' क्या है ?

महर्षि पतंजलि का व्याकरण महाभाष्य शिष्य और आचार्य के प्रश्नोत्तर के रूप में संवाद की शैली में लिखा गया है। महर्षि ने ग्रंथ के आरम्भ में यह प्रतिज्ञा-वाक्य लिखा— "अथ शब्दानुशासनम्"। शब्दानुशासन व्याकरण का पर्याय है। इस वाक्य का अर्थ हुआ कि अब हम व्याकरणशास्त्र या शब्दानुशासन का आरम्भ कर रहे हैं। तुरन्त शिष्य ने प्रश्न उठाया कि आपके इस शास्त्र में किन शब्दों का अनुशासन या विवेचन होगा ? उस युग में संस्कृत भाषा के दो रूप विद्यमान थे। एक तो वेदों में प्रयुक्त साहित्यिक रूप था, जिसे 'वैदिक संस्कृत' कहते हैं। दूसरा रूप 'भाषा' का था, जिसे 'लौकिक संस्कृत' का नाम दिया गया है। इन दोनों रूपों में काफी अंतर पाया जाता है। प्रश्नकर्ता का आशय यही है कि

आपके शास्त्र में भाषा के किस रूप का विवेचन किया जायेगा, किन शब्दों का आप अनुशासन करेंगे ? आचार्य ने उत्तर दिया कि हम तो दोनों रूपों का विवेचन करेंगे। प्रश्न है—"केषां शब्दानाम् ?" उत्तर है—"लौकिकानां वैदिकानां च"। उत्तर का तात्पर्य है कि पाणिनि के व्याकरण में वेदों की भाषा तथा लोकभाषा दोनों का विश्लेषण किया गया है। भाषा के साहित्यिक रूप के साथ बोलचाल के रूप का भी अध्ययन किया गया है। कुछ सामान्य नियम ऐसे निकाले हैं, जो दोनों रूपों में समान रूप से लागू किये जा सकते हैं। कुछ नियम तो सिर्फ बोलचाल की भाषा के लिए बने हैं। इसी प्रकार थोड़े से नियम ऐसे भी हैं जो केवल वैदिक संस्कृत के लिए बने हैं। अतः पाणिनि के व्याकरण में वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार से शब्दों का अनुशासन किया गया है। आचार्य के उत्तर का यह अर्थ हुआ।

अब शिष्य ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया कि भाषा क्या है ? हम सब जानते हैं कि ध्वनियों की एक विशिष्ट व्यवस्था को ही भाषा कहते हैं। ध्वनियों से सार्थक शब्द बनते हैं; इनसे पदों की रचना होती है; पदबंध, उपवाक्य, वाक्य आदि पदसमूह इन्हीं से बनते हैं; यही भाषा का इंद्रजाल है। वाच्य और वाचक का, अर्थ और शब्द का परस्पर संबंध क्या है ? इस अभिप्राय से यह शंका उठायी गयी कि 'गौः' में शब्द क्या है ? सास्ना, लांगूल, खुर, विषाण आदि से युक्त 'गाय' नाम के प्राणी को क्या हम शब्द मानते हैं ? नहीं वह तो 'द्रव्य' है; वस्तु या पदार्थ है। वह वाच्य है, अर्थ है; शब्द नहीं। गाय के शरीर में रूप आदि कई गुण हैं। शुक्ल, श्याम, रक्त, कपिल आदि रूप के भेद हैं। क्या इसे शब्द कह सकते हैं ? नहीं, यह तो 'गुण' है; गुणी वस्तु का धर्म है। यह शब्द नहीं। गाय कई प्रकार की क्रियाएँ, चेष्टाएँ या व्यापार करती है। आँख खोलना, बंद करना, चलना-फिरना आदि ये विभिन्न व्यापार हैं। क्या इन्हें शब्द कह सकते हैं ? नहीं, यह तो 'क्रिया' है; वस्तु का व्यापार है। यह भी शब्द नहीं। गाय एक प्राणी है। इसी प्रकार के करोड़ों प्राणी संसार में हैं। इन सब में एक सामान्य है, जिसे तर्कशास्त्री 'जाति' कहते हैं। व्यक्ति का जन्म होता है, विकास होता है और अंत में विनाश भी होता है। व्यक्ति उत्पत्ति-विनाश-शील और अनित्य है। किंतु उसमें निहित जाति विनाश से रहित, नित्य और अविकारी है। 'गोत्व' जाति प्रत्येक गोव्यक्ति में स्थित है। क्या इसे शब्द कहते हैं ? नहीं, यह तो "आकृति" या 'जाति' है; यह भी शब्द नहीं। इस प्रकार आचार्य ने द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति का स्वरूप संक्षेप में बताकर शब्द से इनका भेद भी स्पष्ट कर दिया। तो फिर शब्द किसे कहते हैं ? जिसका उच्चारण करने से सास्ना आदि से विशिष्ट अर्थविशेष का बोध होता है, उस बोधक ध्वनि को हम 'शब्द' कहते हैं। लोक में अर्थ की प्रतीति के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार की तथा विशिष्ट क्रम या आनुपूर्वी में अवस्थित ध्वनियों का ही प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार की अर्थप्रतीति के कारण ध्वनि-समूह को ही 'शब्द' की संज्ञा दी जाती है। ऐसे ही शब्दों से भाषा बनती है। पतंजलि ने भाष्य के प्रारंभ में ही सरल शब्दों में इस प्रकार भाषा के तत्व का विवेचन किया है।

आधुनिक भाषाविज्ञानी भाषा की परिभाषा देते हुए इसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करते हैं। याहच्छिक ध्वन्यात्मक प्रतीकों की व्यवस्था ही भाषा है। अर्थप्रतीति के लिए जिन शब्दों का हम प्रयोग करते हैं, वे रूढि या संकेत से ही किसी विशिष्ट अर्थ के प्रत्यायक बनते हैं। इस रूढि को 'अभिधा' कहा जाता है। यही शब्द का अर्थ के साथ 'वाच्यवाचक भाव लक्षण' संबंध है वार्तिककार ने अपने प्रथम वार्तिक में 'सिद्धेशब्दार्थ संबंधे' कहकर इस संबंध को 'सिद्ध' कहा है। इसका तात्पर्य है कि भाषा का प्रयोग करने वाले हम लोग अपनी इच्छा से नया संबंध स्थापित नहीं कर सकते। संबंध तो पहले ही बन चुका है; भाषा भाषियों के द्वारा स्वीकृत और पूर्वसिद्ध है। उसी रूढ़ि या परंपरा से प्राप्त संबंध के आधार पर हम आज शब्दों का प्रयोग करते हैं या भाषा का व्यवहार करते हैं। अतः ये शब्द ध्वन्यात्मक प्रतीक ही हैं। रूढि या संकेत क्या है? प्राचीन नैयायिकों ने कहा था कि ईश्वर की यह इच्छा कि अमुक पद से अमुक अर्थ का ग्रहण करना चाहिए, शब्द की शक्ति या रूढि है--"अस्मात्पदा दयमर्थो बोद्धव्य इति ईश्वरेच्छा शक्तिः"। अर्वाचीन नैयायिकों ने भाषा के क्षेत्र में ईश्वर को घसीट लाने की आवश्यकता नहीं मानी। उन्होंने कहा कि "इच्छा शक्तिः"। इससे स्पष्ट होता है कि यह इच्छ को ही रूढ़ि, संकेत, शक्ति या अभिधा कह रहे हैं। यही शब्द के वाचकत्व का आधार है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि शब्द की परिभाषा भाष्यकार ने इसी आधार पर की है कि शब्द अर्थ की प्रतीति के साधन हैं, अर्थ के साथ उनका संबंध पूर्ववर्ती परम्परा से स्थापित या सिद्ध है और ऐसे यादृच्छिक ध्वन्यात्मक संकेतों या प्रतीकों की व्यवस्था से भाषा का स्वरूप बनता है। शब्द और अर्थ का यह संबंध ही भाषाव्यवहार का मूल है। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' के मंगल श्लोक में इसी संबंध का रोचक ढंग से उल्लेख किया है—

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपन्त्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमे श्वरौ ॥"

तुलसीदास ने भी 'गिरा अर्थ जल वीचिसम, कहियत भिन्न अभिन्न' कहकर इसी संबंध के स्वरूप की व्याख्या की है।

भाषा के चार रूप

भारतीय परम्परा में वाक् या भाषा के चार रूप बनाये गये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परा आदि चार भेदों का उल्लेख मानकर एक व्याख्या की गयी; दूसरीं व्याख्या में कहा गया कि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चार शब्द भेदों का यहाँ उल्लेख है। 'भाष्य प्रदीपोद्द्योत' नामक अपनी टीका में नागेश भट्ट ने इसका स्पष्टीकरण किया है। जो शब्द श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य है, उसी को सामान्य रूप से हम भाषा कहते हैं। यह भाषा का 'वैखरी' नाम का भेद है वाह्यउच्चारण से पूर्व वक्ता के हृदय में अवस्थित भाषा का रूप 'मध्यमा' है। लोकव्यवहार से ऊपर की जो भाषा व्यवस्था है उसे पश्यन्ति कहते हैं। ऊपर के स्तर की भाषा का रूप है 'परा'।

भाष्यकार ने 'चत्वारि पदानि' की व्याख्या में यह भी कहा था कि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार शब्द-भेद हैं। यास्क ने भी निरुक्त में इन चार शब्द भेदों का उल्लेख किया है। यद्यपि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार निपात और उपसर्ग भी प्रातिपदिक के अंतर्गत ही आ जाते हैं, अत: दो ही शब्द भेद ठहरते हैं। नागेश भट्ट का कहना है कि ये चारों शब्द भेद भाषा के घटक हैं; प्रत्येक घटक के 'चार पाद' मान लेते हैं। इन चार पादों में सिर्फ एक पाद का ही व्यवहार हो रहा है। बाकी तीन पाद व्यवहार में नहीं हैं। नागेश भट्ट की इस व्याख्या के अनुसार ऋचा के उत्तरार्ध का अर्थ यह होता है कि भाषा की शब्द-संपत्ति अनन्त होती है; किंतु ये सभी शब्द वास्तविक व्यवहार में उपयुक्त नहीं होते। प्राय: भाषा की शब्दसंपत्ति का एक चौथाई हिस्सा ही व्यवहार के क्षेत्र में काम में आता है। बाकी शब्दों का ज्ञान तो विद्वान शास्त्रज्ञों को अवश्य प्राप्त होता है।

नागेश की ऐसी व्याख्या से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली बात तो निर्विवाद है। इसमें किसी की विप्रतियत्ति की शंका नहीं है। बात यह है कि भाषा की शब्दसंपत्ति अनत है। सर्वनाम, धातु, अव्यय आदि कुछ शब्दों की संख्या यद्यपि सीमित प्रतीत होती है, तथापि इनके आधार पर कृत्, तद्धित, समास आदि की शास्त्र विहित प्रक्रिया से निष्पन्न होने वाले शब्दों की संख्या बेशुमार है।

दूसरी बात यह है कि भाषा के समस्त संभावित शब्दरूपों का प्रयोग नहीं होता। कई शब्द अप्रयुक्त ही रह जाते हैं। प्राय: शब्दसंपत्ति का चतुर्थ भाग प्रयोग में पाया जाता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि कुछ शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक होता है। कुछ अन्य शब्दों का प्रयोग बहुत कम होता है। कुछ शब्द शायद ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग कहीं उपलब्ध नहीं होता।

व्याकरण के प्रयोजनों पर विचार करते हुए महर्षि पतंजलि ने लिखा--"रक्षोहागमलध्वसन्देहा: प्रयोजनम्"। यहाँ 'लघु' का अर्थ है लाघव। लाघव का तात्पर्य है कि कम-से-कम शब्दों में ज्यादा-से-ज्यादा अर्थ का बोध कराना। भाषा का सही ज्ञान व्याकरण का साध्य है। इस ज्ञान को प्राप्त करने का उपाय क्या हो सकता है? क्या हम भाषा के प्रत्येक शब्द को अलग-अलग सिखा सकते हैं? भाषा में व्यवहृत प्रत्येक शब्द को स्वतंत्र रूप से सिखाना या इन समस्त शब्दों की सूची बनाना ही 'प्रतिपदपाठ' है। भाष्यकार ने स्पष्ट शब्दों में अपना यह मत प्रगट किया है कि ऐसा प्रतिपदपाठ असंभव है, क्योंकि भाषा के शब्दों की कोई सीमा नहीं है; शब्द असंख्य या अनन्त हैं।

यह बात सिर्फ संस्कृत भाषा के ही नही, किंतु संसार की प्रत्येक भाषा के विषय में सही उतरती है। विविध व्याकरणिक प्रक्रियाओं से अनन्त शब्दों की निष्पत्ति हो जाती है। अत: वैयाकरण प्रत्येक शब्द का प्रातिस्विक रूप से उपदेश नहीं दे सकता। शब्द निष्पत्ति या रूप निर्माण के सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण करना ही अनन्त शब्दों के सही अन्वाख्यान का एक मात्र उपाय ठहरता है।

भाष्यकार ने एक दूसरा तर्क दिया है। उनका कहना है कि जो शब्द अप्रयुक्त कहे

एक भाषा का नाम भी है। दंडी ने कहा है कि शास्त्र में संस्कृत से भिन्न शब्दावली को अपभ्रंश की संज्ञा दी गयी है।

नागेश की मान्यता में संस्कृतेतर समस्त भाषाओं की संपूर्ण शब्दावली 'अपभ्रंश' या 'अपशब्द' सिद्ध होती है। हमारी राय में इस प्रसंग में भाषान्तरों की चर्चा करना सर्वथा अप्रासंगिक है। भाष्यकार ने संस्कृत तथा संस्कृतेतर भाषा की चर्चा नहीं उठायी। संस्कृत में ही साधु शब्द तथा अपशब्द की चर्चा की है। महत्व की बात यह है कि उनकी वैज्ञानिक दृष्टि में अपशब्द भी बोधक ही हैं; किंतु साधु शब्दों का प्रयोग शिष्ट समाज में उचित है। इससे 'अभ्युदय' की सिद्धि होती है।

अपशब्द का अर्थ भाष्यकार ने शिष्टों से बहिष्कृत तथा शास्त्रविरुद्ध शब्द के रूप में ही लिया है। अतएव उनका यह कहना है कि शब्दों की अपेक्षा अपशब्दों की संख्या अधिक है। कात्यायन ने यह जिज्ञासा उठायी कि शब्दों का ज्ञान 'धर्म' का कारण बनता है या प्रयोग? यहाँ धर्म का अर्थ पुण्य (merit) लेना चाहिए, जो स्वर्गादिफलक है। उन्होंने शंका की कि यदि ज्ञान मात्र से धर्म की प्राप्ति संभव है तो अधर्म की प्राप्ति की भी प्रबल संभावना है, क्योंकि अपशब्द ही संख्या में अधिक पाये जाते हैं। सिद्धान्त में बताया गया है कि ज्ञानपूर्वक शब्द प्रयोग से ही धर्म की प्राप्ति होती है। प्रयोग रहित ज्ञान तथा ज्ञान-रहित प्रयोग दोनों धर्म की दृष्टि से अनुपयोगी हैं। व्याकरण के आधार पर शब्द का 'सम्यक् ज्ञान' प्राप्त करके सन्दर्भ के अनुसार सही रूप में उसका प्रयोग करना चाहिए। इस प्रसंग में 'अपशब्द' की चर्चा हुई है। अतः यहाँ संस्कृतेतर भाषा की शब्दावली का जिक्र बिलकुल नहीं है।

भाषा का महत्व

भाष्यकार ने भाषा के महत्व पर खूब प्रकाश डाला है। दंडी ने काव्यादर्श में कहा है कि शब्द रूपी ज्योति का प्रकाश यदि न होता तो तीनों लोकों में गहरा अंधकार व्याप्त होता। सारा मानवीय व्यवहार भाषा पर आधारित है। भाषा के अभाव में मानव का जीवन अंधकारपूर्ण ही रहता।

भाष्यकार के मत में भाषा का महत्व ऐसा है कि उसीसे मानव में दैवी शक्ति का अनुप्रवेश हो सकता है। वास्तव में भाषा ही मानव की प्रगति का मूल है। ज्ञानविज्ञान के क्षेत्र में आज तक जो उन्नति हम कर सके हैं, उसका आधार भाषा ही है। लाखों विद्वान लेखकों ने अपनी-अपनी भाषा में अगणित ग्रंथ लिख कर ज्ञान का प्रसार किया है। वेद, वेदांग, दर्शन, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र, स्मृति, आयुर्वेद आदि भारतीय साहित्य के अंग हैं। आधुनिक काल में कला और विज्ञान के क्षेत्र में कितनी शाखाओं में कितना काम किया गया है और किया जा रहा है! यह समस्त ज्ञान—जो मानव जाति की चिरसंचित तथा अमूल्य संपत्ति है—भाषा के माध्यम से ही तो प्राप्त हुआ है। विचारों का संप्रेषण भाषा के द्वारा ही संभव है। अतएव 'वाक्' का महत्व कल्पनातीत है, असीम है।

हम जिन ध्वनियों का उच्चारण करते हैं, उनकी उत्पत्ति तथा विनाश दोनों प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। अतः ध्वन्यात्मक शब्द अनित्य ही ठहरता है। इन आइडविनाशी ध्वनियों का एक समुदाय नहीं बन सकता। समुदाय के घटक सभी अवयवों का सहावस्थान जब नहीं है, तब समुदाय की निष्पत्ति ही असंभव है। 'नारायण' शब्द संस्कृत में देवता-विशेष का वाचक है। यह एक विशिष्ट क्रम या आनुपूर्वी में संनिविष्ट आठ ध्वनियों का समुदाय है। इसी समुदित रूप में यह किसी अर्थ-विशेष का वाचक हो सकता है। एक भी ध्वनि के न होने पर या इस वर्णक्रम में कोई परिवर्तन हो जाने पर इस शब्द से विवक्षित अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। इस प्रकार उछिष्ट अर्थ की प्रतीति के लिए विशिष्टानुपूर्वी में व्यवस्थित ध्वनि समुदाय का प्रयोग अपेक्षित है। किंतु ध्वनियों की अनित्यता के कारण ऐसा समुदाय ही अस्तित्व में नहीं आ सकता। तो फिर अर्थ की प्रतीति कैसे होती है?

कुछ वैयाकरण इस कठिनाई के निवारण के लिए नित्य शब्द का अस्तित्व मान लेते हैं। शब्द उच्चारण से उत्पन्न नहीं होता। उच्चारण से सिर्फ उसकी 'व्यंजना' होती है। उच्चार्यमाण ध्वनियाँ व्यंजन हैं, नित्य शब्द व्यंग्य है। ऐसे नित्य शब्द से ही अर्थ की प्रतीति होती है। अर्थ की प्रतीति कराने के कारण इसे 'स्फोट' कहते हैं। 'स्फुटति अर्थ अस्मादिति स्फोटः'। स्फोट का सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में स्फोटायन' नामक एक आचार्य का स्मरण किया है। इस नाम से ही प्रतीत होता है कि ये आचार्य स्फोट सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। स्फोट ध्वनियों से व्यंजित होता है। ध्वनि और स्फोट में व्यंग्यव्यंजक भाव संबंध है। इस प्रकार वैयाकरणों ने व्यंजना को भी स्वीकार किया।

भाष्यकार ने 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्ध' इत्यादि वार्तिक की व्याख्या में कहा कि शब्द, अर्थ और उनका संबंध तीनों नित्य हैं। अतएव 'सिद्धे शब्दे अर्थे संबन्धे चेति' कहकर विग्रहवाक्य के द्वारा तीनों का नित्यत्व प्रतिपादित किया है। कैयट ने भाष्यकार का आशय इन शब्दों में स्पष्ट किया है।

कैयट ने जातिपक्ष और व्यक्तिपक्ष की चर्चा की है। शब्द नित्यत्ववाद तथा शब्द कार्यत्ववाद दोनों की दृष्टि से 'नित्यत्व' का समर्थन करने का प्रयास किया है। उत्पत्ति तथा विनाश से रहित होना ही मुख्य रूप से 'नितयत्व' है। प्रवाह रूप में अनुवृत्ति (continuity) को भी कुछ लोग नित्यत्व कहते हैं। शब्द को कार्य यानी उत्पत्ति विनाशधर्मी मानने वाले वैयाकरण भी उसकी प्रवाह नित्यता को स्वीकार करते हैं। इस व्याख्या में 'नित्य' या 'सिद्ध' शब्द का स्वारस्य ही नष्ट हो जाता है।

इस वार्तिक की अवतारणा से पूर्व भाष्यकार ने स्वयं यह जिज्ञासा प्रस्तुत की है कि शब्द नित्य है या कार्य है? इसका सीधा उत्तर नहीं दिया। संग्रह नामक एक ग्रंथ का हवाला देते हुए कहा कि उस ग्रंथ में इस विषय की विशेष मीमांसा की गयी। अंत में यही निष्कर्ष निकाला गया कि शब्द चाहे नित्य हो चाहे कार्य, हमें तो शब्दानुशासन या व्याकरण का प्रणयन करना ही चाहिए। इस प्रकार पतंजलि ने इस मीमांसा में अपनी उपेक्षा दिखाई

है। नागेश भट्ट ने लिखा है कि 'संग्रह' नाम का ग्रंथ व्याडि ने बनाया था और इसका परिमाण लक्ष श्लोकों का था। उन्होंने स्पष्ट कहा कि भाष्यकार के मत में शब्द के नित्यत्व या कार्यत्व का विचार करना व्यर्थ है। इस अनावश्यक विवाद में न पड़ना ही उत्तम है।

स्पष्ट है कि नित्यत्व या कार्यत्व के विवाद में शास्त्रकार की कोई आस्था नही है। भाषा के सही रूप का ज्ञान पाने के लिए शास्त्र की आवश्यकता दोनों पक्षों में समान रूप से स्वीकृत है। अतः शास्त्रकार की दृष्टि में यह विवाद निरर्थक है।

किंतु भाष्यकार ने पाणिनि के तात्पर्य का उल्लेख करते हुए कई प्रसंगों में स्पष्ट किया है कि शब्द नित्य या अविकारी होते हैं। प्रकृति, प्रत्यय, गुण, वृद्धि, संप्रसारण आदि रूप स्वनिमीय विकार, लोप, आदेश, आगम—ये सब शास्त्रकार की कल्पना के फल हैं। वास्तव में इनका कहीं अस्तित्व नहीं। पाणिनि के अनुसार 'बभूव' रूप कैसे बनता है? इसका मूल रूप है ऊराकान्त 'भू' धातु। इसके बाद परोक्ष भूत के अर्थ में 'लिट्', लकार लगा। भू+लिट्। लिट् के स्थान में प्रथम पुरुष एकवचन में प्रत्यय लगा 'णल'। भू+णल। णकार और लकार इत् हैं। चुटू हलन्त्यम्। इत् होने के कारण उन दोनों का लोप होता है।

भाष्यकार ने अपना मंतव्य प्रगट किया है कि आगम की कल्पना करने से शब्द के अनित्यत्व की शंका होती है, किंतु आदेश की कल्पना करने पर यह दोष प्रसक्त नहीं होता। आदेश का अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि शब्द के एकदेश (एक वर्ण या वर्ण समुदाय) के स्थान पर कुछ और की उत्पत्ति होती है। किन्तु आदेश का अर्थ यही है कि एक शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द का प्रयोग होता है। तब शब्द की उत्पत्ति या विकार का सवाल नहीं उठता। जिस प्रकार दूध में खटाई डालकर दही जमाते हैं, तो द्रव्य में रासायनिक प्रक्रिया से रूपान्तर या विकार की प्राप्ति होती है, उस प्रकार भू और लिट् को मिलाने पर 'बभूव' नहीं बनता। वास्तव में 'लिट्' का कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह वैयाकरण की कल्पना है। मथितार्थ यही है कि भवति के स्थान पर परोक्ष भूत की विवक्षा में 'बभूव' का प्रयोग विहित है। प्रतिपदपाठ के गौरव से बचने के लिए प्रक्रिया लाघव की दृष्टि से लिट्, द्वित्व आदि की कल्पना की गयी है। इस प्रकार भाष्यकार ने शब्दनित्यत्व की व्याख्या की है। स्पष्ट है कि स्फोट की नित्यता में और अविकारित्वलक्षण इस नित्यता में मौलिक अंतर है। शब्दब्रह्मवादी व्याकरण दर्शन में 'स्फोट' की संकल्पना परम तत्त्व के स्तर पर हुई है—"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वम्"। किन्तु अविकारित्व का अर्थ प्रवाहनित्यता में भी संभव है।

शब्दों का अर्थ

भाष्यकार ने एक और महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा प्रस्तुत की है कि शब्दों का प्रत्येक वर्ण सार्थक है या नहीं। किसी शब्द में एकाधिक ध्वनियाँ हैं, तो यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या इन ध्वनियों में अर्थ का विभाजन हो सकता है? पूर्वपक्षी कहता है कि एकवर्णात्मक

शब्द भी हैं तथा वर्णपरिवर्तन से अर्थपरिवर्तन होता है; अतः प्रत्येक वर्ण को अर्थवान ही मानना चाहिए। इण्-गतौ। यहाँ णकार इत् है। धातु का रूप है—"इ", जिसका अर्थ है जाना। यह एकवर्णात्मक शब्द का उदाहरण है। अत इञ्। दशरथस्यापत्यं दाशरथिः। यहाँ अकारान्त प्रातिपदिक के बाद अपत्य के अर्थ में तद्धित प्रत्यय 'इ' लगा है। यह भी एकवर्णात्मक प्रत्यय है। इस प्रकार एकवर्णात्मक निपात और अन्य शब्द भाषा में पाये जाते हैं। वे अर्थ के वाचक हैं। अतः वर्ण सार्थक होते हैं।

दूसरा तर्क यह है कि 'कूप' शब्द में ककार को हटाकर यकार का आसंजन करें, तो एक शब्दान्तर 'यूप' की निष्पत्ति होती है। यहाँ 'यूप' शब्द से यद्यपि अर्थान्तर का बोध होता है, फिर भी कूपार्थ का बोध तो नहीं होता। ककार को हटाने से कूपार्थ भी हट गया; यकार के आसंजन से यूपार्थ की उपलब्धि हुई। इसी प्रकार 'सूप' शब्द में वर्णान्तर के प्रयोग से अर्थान्तर की प्रतीति होती है। वर्णपरिवर्तन से अर्थपरिवर्तन के ये कुछ उदाहरण हैं। इनसे सिद्ध होता है कि प्रत्येक वर्ण सार्थक है। पूर्वपक्षी के तर्कों का सार यही है।

सिद्धान्ती का कहना है कि प्रत्येक वर्ण को अर्थवान मानना ठीक नहीं है। पूर्वपक्षी ने कूप, यूप और सूप का उदाहरण देकर बताया कि ककार, यकार और सकार अर्थवान हैं। यदि कूप का अर्थ ककार से प्रतीत होता है, तो फिर 'ऊप' का क्या अर्थ ठहरता है? 'ऊप' तो इन तीनों शब्दों में पाया जाता है। तो कूप, यूप और सूप में सामान्य रूप से अन्वित होने वाला कौनसा अर्थ हो सकता है? यदि कूप का अर्थ ककार का ही अर्थ मान लिया जाय, तो वर्णों की अर्थवन्ता का समर्थन करने वाले की दृष्टि से ही 'ऊप' (तीन वर्णों का समुदाय) शब्द निरर्थक बन जाता है। अतः इस तर्क में कोई बल नहीं है।

एकवर्णात्मक तथा सार्थक शब्द अवश्य होते हैं। धातु, प्रत्यय, निपात आदि कुछ एकवर्णात्मक शब्द सार्थक हैं तो इसके आधार पर सभी वर्णों की अर्थवत्ता सिद्ध नहीं होती। अर्थ तो 'व्यवहार' से ही सिद्ध हो सकता है। जिस प्रकार कुछ मनुष्य प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं हो पाते और कुछ अन्य पुरुष सफल हो जाते हैं, वैसे ही कुछ एकवर्णात्मक शब्द सार्थक होते हैं और अन्य वर्ण अर्थरहित ही रहते हैं। यह एक स्वाभाविक अंतर है।

इसका तात्पर्य है कि शब्दों की अर्थप्रत्यायनशक्ति हमारे तर्कों से सिद्ध नहीं होती। वह परम्पराप्राप्त लोक व्यवहार पर आधारित है, स्वभावसिद्ध है। अतः यदि कुछ वर्ण अर्थवान् हैं और कुछ निरर्थक हैं, तो इस मामले में हम क्या कर सकते हैं? यह तो स्वाभाविक है।

यहाँ एक बात पर विचार करना चाहिए। पूर्वपक्षी का एक तर्क यह भी है कि यदि वर्ण प्रत्येक या स्वतंत्र रूप में अर्थवान् नहीं हैं, तो उनका संघात या समुदाय भी अर्थवान् नहीं हो सकता। इस बात के लिए एक दृष्टांत दिया गया है। एक नेत्र युक्त व्यक्ति देख सकता है; तो एक सौ नेत्रवान् पुरुष भी देख सकते हैं। एक अंधा (नेत्ररहित) देख नहीं सकता,

एक सौ अंधों का समूह भी देख नहीं सकता। इसी प्रकार यदि प्रत्येक वर्ण अर्थवान् है, तो अर्थवान् वर्णों का संघात भी अर्थवान् बन सकता है। लेकिन यदि प्रत्येक वर्ण निरर्थक है, तो ऐसे निरर्थक वर्णों का समुदाय भी सार्थक नहीं बन सकता। इसके प्रतिवाद में कहा जा सकता है कि रथ के अंग (पहिया, ध्वज आदि) अलग-अलग रहकर—प्रत्येकता की दशा में--'गति' में असमर्थ हैं। किन्तु वे सभी अंग सम्मिलित होकर गति को पैदा करते हैं। इसी प्रकार वर्ण प्रत्येक रूप में निरर्थक होकर भी संघात के रूप में सार्थक बन जाते हैं। ऐसा प्रतिबंदी दृष्टान्त देकर भाष्यकार ने वर्णसमुदायात्मक शब्दों की अर्थवत्ता सिद्ध की है।

वास्तव में इस रथांग के दृष्टान्त का विशेष महत्त्व है। रथ के सब अंग गति को पैदा करने के लिए अनिवार्य हैं। एक भी अंग की कमी हुई तो गति की निष्पत्ति नहीं होगी। इसी प्रकार शब्द की सार्थकता के लिए प्रत्येक ध्वनि का सही क्रम में प्रयोग अनिवार्य है। एक भी ध्वनि के अभाव में या स्थानान्तर कर दिए जाने पर अर्थ की सिद्धि में बाधा पड़ती है। यहाँ तक कह सकते हैं कि शब्द की निष्पत्ति नहीं हो पाती। कूप, यूप और सूप के उदाहरण इसी बात के पोषक हैं। 'यूप' एक शब्द है; वर्णक्रम का परिवर्तन करें, तो 'यूप' एक शब्दान्तर बनता है। कुछ ही वर्ण समुदाय सार्थक होते हैं। कुछ अन्य समुदाय—समुदायात्मक होने पर भी—निरर्थक ही रह जाते हैं। 'नारायण' शब्द सार्थक है; 'पायारण्ण' का कोई अर्थ नहीं होता। शब्द की यह अर्थ-प्रत्यायनशक्ति अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर व्यवहार से ही सिद्ध होती है। अतएव शक्तिग्राहक प्रमाणों में मूर्धन्य स्थान 'व्यवहार' को दिया गया है। कोश और व्याकरण भी शक्तिग्राहक प्रमाणों से प्रमुख हैं। किन्तु वे भी व्यवहार या प्रयोग पर आधारित हैं। इनकी प्रामाणिकता प्रयोगोपजीवी है। प्रयोग तो प्रमाणान्तर निरपेक्ष और स्वतंत्र प्रमाण है। कहा भी है—

"प्रयोग एव सर्वेषां शब्दानामर्थसाधकः।
अप्रयुक्तस्य शब्दस्य लक्षणं नोपपद्यते॥"

इसी तात्पर्य से भाष्यकार ने शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य कहा—

"नित्यो हि अर्थवनामर्थै रभिसंबन्धः।"

भारतीय आचार्यों का भाषाविषयक चिंतन कई शास्त्रों में विविध प्रसंगों में बिखरा हुआ मिलता है। वेद के छः अंगों में चार भाषा सम्बन्धी शास्त्र ही हैं। छः वेदांग ये हैं—शिक्षा, व्याकरण, छंद, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। इनमें पहले चारों का विषय भाषा ही है। शिक्षा का अर्थ है ध्वनि विज्ञान। भारतीय साहित्य में वेदों का महत्त्व विशिष्ट प्रकार का है। उनका सही उच्चारण करना अध्येता का परम कर्त्तव्य है। इसी उच्चारण की प्रक्रिया को समझाने के लिए कई प्रकार के शिक्षाग्रंथों की रचना की गयी है। प्रातिशाख्य ग्रंथ भी शिक्षा के समकक्ष हैं। इनमें उच्चारण तथा संधि पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। निरुक्त में शब्दों की व्युत्पत्ति पर प्रधान रूप से विचार किया गया है। छंद तो पद्यरचना के लिए आवश्यक हैं; काव्यभाषा के सम्बन्ध में तो इसका असंदिग्ध महत्त्व है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ये चारों वेदांग वस्तुतः भाषा-सम्बन्धी विवेचन की चार प्रमुख दिशाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इनके अलावा अन्यत्र भी भाषा के सम्बन्ध में गंभीर चिंतन किया गया है। व्याकरण तो भाषाविज्ञान का ही पर्याय है। इसका एक दार्शनिक पक्ष भी विकसित किया गया है। भर्तृहरि का वाक्य-पदीय भारतीय व्याकरण दर्शन का सर्वोत्तम ग्रंथ है। वैयाकरण भूषणसार, मंजूषा आदि ग्रंथों में दार्शनिक पक्ष का खूब विवेचन किया गया है। मीमांसा और न्याय-शास्त्र (तर्क) में भी शब्द पर गंभीर विवेचन किया गया है। मीमांसा को 'वाक्य' कहते हैं, क्योंकि विविध न्यायों का सहारा लेकर वेदवाक्यों का तात्पर्य निर्णय करने का प्रयास ही मीमांसा है। अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद मीमांसा की ही देन है। न्याय तो प्रमाणशास्त्र है; उसमें चार प्रमाणों का विवेचन है; अतः उसे 'प्रमाण' कहते हैं। न्याय-दर्शन में स्वीकृत चार प्रमाण ये हैं --प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। अंतिम प्रमाण शब्द के सम्बन्ध में नैयायिकों ने विस्तार से विचार किया है। शब्दशक्तियों पर, शब्दबोध की प्रक्रिया पर तथा ऐसे ही वाक्यगत शब्दों के अन्वय से सम्बन्धित कई बातों पर न्याय के ग्रंथों में विवेचन मिलता है। व्युत्पत्तिवाद, शक्तिवाद, शब्दशक्ति प्रकाशिका आदि प्रौढ़ तर्कग्रंथ इस बात के साक्षी हैं।

अलंकार शास्त्र में भी भाषा सम्बन्धी चिंतन विपुल मात्रा में पाया जाता है। शब्द-शक्तियों में अभिधा और लक्षण के अतिरिक्त व्यंजना नामक तीसरी वृत्ति को आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। इसी व्यंजना के आधार पर ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना हुई है। यद्यपि रस संप्रदाय बहुत प्राचीन है और भारत के नाट्य-शास्त्र में ही रस का प्रौढ़ विवेचन भी उपलब्ध है, तथापि रस की ध्वनि के एक प्रमुख भेद के रूप में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को ही मिलना चाहिए। भरत का रस प्रतिपादक सूत्र प्रसिद्ध है—"विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।" भट्ट, लोल्लट आदि कई आचार्यों ने इस सूत्र की अपने-अपने ढंग से व्याख्या की है। भामह और दंडी जैसे अलंकारवादी आचार्यों ने भी रस का निषेध नहीं किया; किन्तु उन्होंने 'रसवत्' अलंकार को मानकर रस को एक गौण स्थान दिया। लेकिन इन आचार्यों ने व्यंजना पर प्रकाश नहीं डाला। व्यंजना एक स्वतंत्र वृत्ति या शक्ति है; उसी से रसादि की प्रतीति हो सकती है; रसादि तो हमेशा व्यंग्य ही रहता है; व्यंजना के बिना रस का रसत्व ही असिद्ध है; वस्तु और अलंकार भी व्यंग्य हो सकते हैं; इस प्रकार आनंदवर्धन ने विस्तार से व्यंजना के तत्त्व का निरूपण किया है। व्यंजना की स्थापना के लिए ही उन्होंने एक प्रौढ़ ग्रंथ की रचना की; उसका नाम है 'ध्वन्यालोक'। आलंकारियों में ही एक वर्ग व्यंजना का विरोध करता रहा। भट्ट नायक, महिम भट्ट आदि आचार्य इस वर्ग के नेता हैं। भट्टनायक का ग्रंथ 'हृदयदर्पण' आज लुप्त हो गया है। लेकिन सौभाग्य से महिमभट्ट का ग्रंथ 'व्यक्ति विवेक' उपलब्ध है। महिम भट्ट ने व्यंजना का प्रवल तर्क देकर खंडन किया है। इस प्रकार अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने खंडन-मंडन के द्वारा भाषा की अभिव्यंजना शक्ति पर गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया है।

अभिनवगुप्त के बाद तो ध्वनिसिद्धान्त सर्वमान्य हो गया। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि सभी परवर्ती प्रमुख आचार्य ध्वनिवादी हैं।

शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छंद, मीमांसा, न्याय और अलंकार शास्त्र में तो भाषा के विषय में मुख्य रूप से चिंतन किया गया है। पातंजल योगसूत्र आदि में भी प्रासंगिक रूप में कहीं-कहीं भाषा सम्बन्धी चिंतन के कुछ अंश मिलते हैं। योगदर्शन का एक सूत्र है— 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'। शब्द के श्रवण के बाद अर्थ का ज्ञान होता है। इस अर्थ का स्वरूप क्या है? क्या बाह्य जगत् में स्थित वास्तव अर्थ का ही बोध शब्द के द्वारा होता है? यदि ऐसा मानते हैं, तो गगनकुसुम, शशशृंग आदि शब्दों से अर्थबोध की उतपत्ति नहीं हो सकती। गगनकुसुम का अर्थ है आकाश का फूल। फूल तो लताओं में होता है; आकाश में उसकी संभावना नहीं है। 'असंभव' के अर्थ की प्रतीति के लिए ही इस शब्द का प्रयोग होता है। शशशृंग का अर्थ है खरगोश का सींग। यह भी बाह्य जगत् में कहीं उपलब्ध नही। वाच्य वस्तु की सत्ता ही नहीं है, तो वाचक शब्द का अर्थ कैसे उत्पन्न होगा? उपर्युक्त सूत्र में बताया गया है कि शब्द का अर्थ बाह्यवस्तु-सापेक्ष नहीं है। यह तो 'वस्तु-शून्य' विकल्पात्मक ज्ञान का विषय है। कल्पित अर्थ का भी शब्द वाचक हो सकता है। इस प्रकार योग आदि अन्य शास्त्रों में भी भाषा सम्बन्धी चर्चा के कुछ अंश प्राप्त हुए हैं।

ऋग्वेद से लेकर आज तक भाषा के रहस्य का उद्घाटन करने का प्रयास निरंतर चल रहा है। इस ज्ञान की साधना में भारतीय आचार्यों का योगदान कई शास्त्रों के रूप में संसार के समक्ष प्रस्तुत है।



नये प्रकाशन समीक्षकों की दृष्टि में

नीरव गान

—डॉ० नलिनी शुक्ल

प्रकाशक—शक्ति योगाश्रम
नानाराव घाट, कानपुर
मूल्य—पन्द्रह रुपये

डा० नलिनी शुक्ल रचित नीरवगान (काव्य संकलन) देखने को मिला। मैंने इसे आद्योपान्त पढ़ा, इसकी कविताओं का रसास्वादन किया।

प्रस्तुत संग्रह में कवयित्री डा० शुक्ल की जिन रचनाओं का संकलन हुआ है वे किसी एक काल की नहीं हैं, इस संकलन में वे रचनाएं भी हैं जिनकी रचना उस बाल्यावस्था में हुई है, जब कृत्रिमता की, अथवा परिष्कार की संभावना भी नहीं की जा सकती, अर्थात् दस बारह वर्ष की अल्प आयु में, और कुछ उस काल की हैं, जब कवयित्री ने व्युत्पत्ति और अभ्यास अर्जित कर लिया है। अतः यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि संग्रहगत सभी कविताएं एक कोटि की न हों। इस दृष्टि से समस्त संग्रह में व्युत्पत्ति और अभ्यास के अन्तर की झलक सहज रूप से मिल जाती है, किन्तु शक्ति (प्रतिभा) के दर्शन सर्वत्र समान रूप से होते हैं।

सदा सहज रूप से स्मित वदना श्रीमती शुक्ला के अन्तर में कितनी वेदना भरी है इसका अनुमान इनकी कविता-सरित् में अवगाहन के बिना सम्भव नहीं है। 'चल प्रभञ्जन पीडितों के' शीर्षक कविता की

"हर व्यथा की माँग का शृङ्गार मेरी अश्रु माला।
× × ×
है अनन्त प्रसार पीड़ा द्रौपदी की शाटिका हूँ।

पुष्प परिमल से सुगन्धित मैं व्यथा की वाटिका हूँ।।" पृ० ५ पंक्तियाँ तथा 'क्या यहाँ कुछ शाप है' शीर्षक कविता की—

"जन्म से अब तक जगत् रङ्ग स्थली में खेलती हूँ।
घातपर प्रतिघात, फिर सन्ताप उसका झेलती हूँ।
ओ चिताओं के अतिथि किस लोक को हो तुम सिधाए।"
× × ×
ज्वाल जलती है चिताओं की अभी इस चित्रपट पर।
अश्रु की बरसात अविरल ताप फिर भी है प्रखर तर।
स्नेह बाती सब जुटे पर दीप लौ जलने न पाए।

क्या यहाँ कुछ शाप है मंगल दिवस आने न पाए?" पृ० २७ इत्यादि पंक्तियाँ तथा 'भाव उदधि फिर जाग उठा है, कैसे इसको पुनः सुलाएँ इत्यादि कविताओं में इस व्यथा-वेदना-का सागर उमड़ता प्रतीत होता है। यह सहज करुणा ही यदि आदि कवि वाल्मीकि को अमर कर सकती है, महादेवी को महादेवी बना सकती है, तो कोई कारण नहीं कि श्रीमती शुक्ला को सर्वशुक्ला (सरस्वती) की सहज उपासिका सिद्ध न कर सके।

कवयित्री की यह व्यथा वेदना उसके अपने संकीर्ण 'स्व' की नहीं है, वह मूलतः विश्व की व्यथा में दीन हीन जनों की व्यथा में व्यथित है, तभी तो वह जब वैभव भरी अट्टालिकाओं के पास ही, सड़क पर शीत से ठिठुरते अथवा ग्रीष्म में झुलसते मजदूरों को उनके शिशुओं को देखती है, तो उसके मुख से सहज ही निकल पड़ता है—

'ये भूखे कंकाल नग्न तन अन्नवस्त्र आवास प्रश्नघन वैभव के उन्मुक्त शापवन
होते हैं निस्तेज प्रतिक्षण तप तप भी सन्ताप ज्वाल में लो सांसों की कड़ियां
विखरी कितनी व्यथा विश्व में विखरी?" पृ० १२

वह इस पीड़ा के अथाह सागर को देख कर कोरी संवेदना से तृप्त नहीं होती, वह आकुल हो उठती है उसके हरने को, पीड़ितों के उद्धार के लिए सब कुछ कर डालने को। उसकी यह आकुलता निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

"कल्पवृक्ष सी चाह हृदय की प्रलयकाल सी सीमाएं।
विकल अभावों के वारिधि पर कैसे उत्तव सेतु बनाएं।
काश व्यथा इनकी हरपाती छलकाती आशा की गगरी॥ पृ० १२

कवयित्री की आकुलता तब और बढ़ जाती है जब वह संवेदना के बहाने लोगों को छल करते पाती है, उपकार का दिखावा करते वंचकों का व्यापार देखती है :—

आज तो उपकार भी व्यापार है,
होड़ में उसकी गरम व्यापार है।
सब मुखौटे पहन छुप बैठे यहाँ
सत्य और असत्य बोध किसे कहाँ? पृ० ४७

वेदना से भरी करुणा की गगरी में कवयित्री का दार्शनिक रूप भी कहीं कहीं द्रष्टव्य है :—

"यह संसार जाल है स्वर्णिमः फंसते प्राणी जिसमें निशदिन
सुखपाया किसने बन्धन में, शान्ति कहाँ है जगजीवन में॥ पृ० ४८

एवं

नश्वर यह समस्त संसार
फिर भी क्यों मानव इसमें रत, है यह सब निस्सार।
करता क्यों दिन रात परिश्रम
पड़ कर हा भौतिक सुख के भ्रम?

धन जन प्रेम सभी हैं नश्वर व्यर्थलोक व्यवहार ।।
नश्वर यह समस्त संसार ।।

× × ×

व्यर्थ सुखों की तृष्णा आशा ।
व्यर्थ विश्ववैभव अभिलाषा ।
झूठे निपट स्नेह धन बन्धन अनृत जगत व्यवहार ।
नश्वर यह समस्त संसार ।।

इत्यादि पंक्तियां इस दार्शनिकता की निदर्शन है । जीवन के प्रति इस दर्शन को सतत पीड़ा से उत्पन्न निराशा के कारण उद्‌भुत पलायन की भावना स्वीकार किया जाये अथवा आचार्य शंकर के माया वाद के प्रभाववश मायामय विश्व के प्रति वैराग्य की भावना ? इस प्रश्न पर आलोचकों में मतभेद हो सकता है । किन्तु इतना सुनिश्चित है कि काव्य की जननी करुणा का जन्म व्यथा से होता है, यह व्यथा जब अपने उग्र रूप में प्रगट होती है, तो जहाँ वह एक ओर करुणा को जन्म देती है वहीं दूसरी ओर कुछ करने को ललकारती है । व्यथा के उपस्थित होने पर उसके समूल उन्मूलन के लिए सहज भाव से संघर्ष करने को तत्पर अथवा सतत संघर्ष शील जनों को वैदिक ऋषियों ने "नमो नादेयायन्च, द्वीप्याय च" कह कर आदरणीय कोटि में प्रतिष्ठित किया है । पीड़ा की परिस्थितियों में संघर्ष की यह भावना किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को सुमेरू सा समुन्नत बना देती है उसे कुन्दन सा निखार देती है । श्रीमती शुक्ला की कविता में उस संघर्ष का आमन्त्रण सतत मुखरित है ।

प्रस्तुत कविता संग्रह में प्रत्येक कविता के साथ उसका उद्‌भवकाल (रचनातिथि) का उल्लेख नहीं है । काव्य संकलनों में इसके निर्देश की परम्परा भी नहीं है । किन्तु यदि प्रत्येक कविता मुख्यत: मुक्तक के साथ उसकी रचनातिथि या वर्ष का निर्देश भी किया जाए, तो इससे जहाँ कवि के मनोभावों का ऐतिहासिक अध्ययन करने में सुविधा हो सकती है, वही इस परम्परा से दार्शनिक चिन्तन के मनोवैज्ञानिक इतिहास के अध्ययन के लिए भी एक आधार तैयार हो सकता है ।

अन्त में मैं प्रस्तुत संग्रह की लेखिका डा० नलिनी शुक्ला को इस प्रशस्त काव्य-सृष्टि के लिए बधाई देते हुए आशा करता हूँ कि इनकी लेखनी दिनानुदिन नवीन काव्य सुमनों से दिग्दिगन्त को सुरभित करेगी ।

—ब्रह्ममित्र अवस्थी

विद्वान् लेखकों से निवेदन

हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा पिछले ४७ वर्षों से 'हिन्दुस्तानी' त्रैमासिक का प्रकाशन किया जा रहा है। हिन्दी भाषा और साहित्यिक गतिविधियों में इस पत्रिका के ऐतिहासिक योगदान से भी आप अवगत होंगे।

हमें खेद है कि परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण 'हिन्दुस्तानी' के विधिवत् और नियमित प्रकाशन में कई बाधाएं आती रही हैं। इधर हम प्रयत्नशील हैं कि यह पत्रिका फिर से अपनी ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह कर सके और समकालीन साहित्य, आलोचना और सांस्कृतिक चिन्तन का मंच बन सके। 'हिन्दुस्तानी' के इस पुनर्गठन में हिन्दी के विद्वद्वर्ग के रचनात्मक सहयोग और उनकी शुभ कामनाओं की हमें आवश्यकता है। हमें संस्कृत, प्राकृत, फारसी, तमिल, बंगला, कश्मीरी आदि भाषाओं और साहित्यों से संबंधित अनेक लेख प्राप्त होते हैं। अपनी सीमाओं के कारण हम उन्हें इस पत्रिका में प्रकाशित नहीं कर सकते। हिन्दुस्तानी एकेडेमी का मुख्य उद्देश्य है 'हिन्दी, उसके साहित्य तथा ऐसे अन्य रूपों और शैलियों जैसे उर्दू, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि का परिरक्षण, संवर्धन और विकास करना जिनकी उन्नति से हिन्दी समृद्ध हो सकती है।'

अत: हमें ऐसे लेखों की अपेक्षा है जिनका संबंध हिन्दी भाषा और साहित्य, हिन्दी बोलियों तथा हिन्दी प्रदेश की संस्कृति से है।

दूसरी बात यह है कि हम बहुत लंबे-लंबे लेख स्वीकार करने की स्थिति में नहीं हो पाते।

हम अपने विद्वान् लेखकों से यह भी अपेक्षा करते हैं कि वे हमें मौलिक और अप्रकाशित लेख भेजें। किसी थीसिस के अंश भी छापने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं। शोधछात्रों के कार्य को प्रकाश में लाने के लिए और उन्हें प्रोत्साहन देने के निमित्त हम अलग से अपने कुछ पन्ने आरक्षित कर रहे हैं। ऐसे छात्रों को अपने निर्देशक से इस आशय का प्रमाण पत्र संलग्न करना चाहिये कि यह लेख मौलिक एवं अप्रकाशित है तथा 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका के अनुरूप उच्च स्तर का है। लेख अत्यन्त संक्षिप्त और सारगर्भित होना चाहिये।

सूरदास के विशेषज्ञ विद्वानों से हमारी विनम्र प्रार्थना है कि हम सूर पंचशती के उपलक्ष्य में "हिन्दुस्तानी" का सूर-विशेषांक निकालने जा रहे हैं। हमारी चेष्टा है कि हम इस विशेषांक में ऐसे लेख दे सकें जो कि परंपरागत पद्धति से अलग हों और सूर की कविता की प्रासंगिकता को समकालीन सन्दर्भों में रेखांकित करते हों अथवा सूर के जीवन और

कृतित्व पर बिलकुल नया प्रकाश डाल सकें। आपके सहयोग के बिना हमारी यह परिकल्पना सफल नहीं हो सकती। आप अपना लेख यथा शीघ्र भेजकर इस संकल्प को पूरा करने में सहयोग दें।

हमारी प्रार्थना पर कई विद्वानों ने अपने लेख भेज दिये हैं। आप भी इस यज्ञ में सम्मिलित हों। संभव हो तो हमें यह सूचित करने की कृपा करें कि आपका लेख हमें सूर के किस पक्ष पर और कब तक प्राप्त हो रहा है।

अंत में हिन्दुस्तानी में प्रकाशित एक लेख का पारिश्रमिक पाँच रुपये प्रति पृष्ठ के हिसाब से तथा अधिकतम १०० रु० दिया जाता है।

सहायक सम्पादक 'हिन्दुस्तानी'

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद-२११००१

रजिस्ट्रार न्यूजपेपर्स के अन्तर्गत
विज्ञप्ति

१. प्रकाशन का नाम	हिन्दुस्तानी
२. प्रकाशन की तिथि	त्रैमासिक (जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्टूबर)
३. मुद्रक का नाम	देव भारती प्रेस, इलाहाबाद
४. राष्ट्रीयता	भारतीय
५. पता	१०, दरभंगा कालोनी, इलाहाबाद
६. प्रकाशक	श्री उमाशंकर शुक्ल, सचिव तथा कोषाध्यक्ष
७. राष्ट्रीयता	भारतीय
८. पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
९. संपादक का नाम	डॉ० हरदेव बाहरी प्रधान संपादक
१०. राष्ट्रीयता	भारतीय
११. पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
१२. स्वामित्व	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मैं उमाशंकर शुक्ल, सचिव तथा कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी घोषित करता हूँ कि उपरिलिखित मेरी जानकारी के अनुसार बिलकुल ठीक है।

उमाशंकर शुक्ल
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

भाग ३८ अंक ३, ४, १९७७